साम्ययोग
का
समाज-दर्श

विनोबा

संकलन-संपादन : मीरा अरुण

ईशावास्यं इदं सर्वम्

मैत्री : वर्ष 23, अंक 10

'15 नवंबर' विशेषांक

मुद्रक-प्रकाशक : चन्नम्मा हल्लिकेरी,
ब्रह्मविद्या-मंदिर प्रकाशन, पवनार 442111

संपादक : सुशीला अग्रवाल
कुसुम देशपांडे
मीरा भट्ट
कालिन्दी

वार्षिक चंदा : 30 से 40 रुपये ऐच्छिक
'15 नवंबर' विशेषांक : 15 रुपये

मुखपृष्ठ सजावट : श्री संजय धोतरकर, नागपूर
कव्हर छपाई : श्री दि. मि. धाकस
योग मुद्रणालय, महाल, नागपूर

आमुख

विनोबा समग्र जीवन के उद्गाता थे। हम सबके लिए स्फूर्तिप्रेरक, चैतन्य स्फुलिंग थे। मनुष्य, पशु-पक्षी, प्राणी, चर-अचर – समूची सृष्टि – समष्टि उनकी उपास्य प्रतिमा थी। इन समग्रताओं को ले कर उनका एक 'समाज' बनता था, जो कि उनके लिए प्रतिकृति, नारायण की प्रतिमूर्ति था। आत्मतत्त्व से ले कर परम तत्त्व तक पहुंचनेवाली परमयात्रा का 'समाज' नामक जो मुकाम है, उसके बारे में विनोबा की आंखों में एक स्वप्न था, उनके दिल में एक आग थी, अंतर में एक आरजू थी और मस्तिष्क में थे विचार! इन सभी प्रकार की सामग्री से जो दर्शन साकार हुआ और जो हमें अहिंसक समाज की ओर ले जाने में समर्थ सिद्ध हो सकता है, उसका यह संकलन है। मानव-समाज के विषय में पुरुषार्थपूर्ण कृति करते हुए उन्होंने जो क्रांतिपूर्ण विचार पेश किये, उनका यहां संग्रह है।

विनोबा का यह सामाजिक क्रांत-दर्शन किसी एकांत ध्यानगुहा में प्रस्फुटित नहीं हुआ। इसका प्रसवस्थान है – लोकांत। बिलकुल लोकसागर की तरंग पर खेलते-खेलते खेवैय्ये को ये मोती प्राप्त हुए हैं। वे जब मानव-सागर के किनारे पहुंचे थे, तब खाली हाथ तो नहीं गये थे। उनके हाथों में थी गांधी-दर्शन की वह भव्य विरासत, जो उन्हीं के शब्दों में 'पुरातन परंपराओं के फलस्वरूप और नूतन परंपराओं के बीजस्वरूप' थी।

गांधी-विचार का एक अनमोल रसायन उनकी प्रतिभा में ओत-प्रोत था। इस पार्श्वभूमि में साम्ययोग की विचार-क्रांति का वह इंद्रधनुष झिलमिला उठा, जिसको श्रद्धेय दादा धर्माधिकारी ने 'ललित क्रांति' कहा। एक विरल क्रांत-दर्शन, जिसमें सत्य के साथ माधुर्य, सौंदर्य, प्रेम-अनुराग, सौष्ठव-सुषमा, ज्ञान-विज्ञान आदि लालित्य की पूरी सामग्री संरसित थी। पूरा दर्शन एकसाथ नहीं हुआ, मानो कोई कलाकार एक-एक बिंदु लेता गया, एक के बाद एक लकीरें उभरती गयीं और आखिर साकार हुआ एक समग्र अखंड जीवनदर्शन !

यहां समग्र 'साम्ययोग-दर्शन' में से केवल 'समाज-दर्शन' प्रस्तुत किया गया है। कबूल करना होगा कि यह भी एक अत्यंत दुष्कर कार्य था। मानो एक असीम सागर में ही डुबकी लगानी थी और सीमित पात्र में चुने हुए मोती ले आने थे। फिर सतत सुनायी देते थे बाबा के वे उद्‌गार, जो उन्होंने 'पंचामृत' (गुजराती) का संपादन करते समय कहे थे – 'याद रखो ! वैद्यराज की दवाई सीधी मुंह में नहीं डालते। दवाई लेने के पहले बोतल खूब हिलानी पडती है।' यहां तो बोतल थी, समूचा ब्रह्मांड, और हिलाना था विशाल सागरजल। हाथ थे खूब छोटे। बोतल को हाथ में उठाना, उसके भीतर की सामग्री को बूंद-बूंद ऊपर-नीचे कर के हिलाना और समरस करना, यह सारा कितना कठिन है, इसका एहसास प्रतिक्षण होता रहा। एक महान विचार का, नन्हे हाथों से हुआ यह संकलन है, फिर भी उसमें गर्भित रूप में साम्ययोगी समाजरचना के जो विचार-बीज पडे हैं उस विरासत को मानव संभाल लेगा तो अशक्त सहज ही सशक्त बन जायेगा, इतना प्रचुर सामर्थ्य इस विचार-क्रांति में भरा है।

'आचार्य' तो वे थे ही। परंतु उन्होंने तो 'चर' धातु के सभी विधायक उपसर्गों को आत्मसात् किया था। विचार, प्रचार, संचार, आचार, उपचार . . . क्या-क्या उन्होंने नहीं किया? विनोबाचरित्र यानी त्रिविध दिशाओं में प्रतिक्षण विचरण। ऊंचाई, गहराई, व्यापकता और पारमिता के परिमाणों में उनका नित्य विहार रहा। इसी नित्य-चर्या में से नये समाज के अनोखे विचारदर्शन का प्रसव हुआ। विज्ञानयुग की प्राज्य संस्था के मानो वे प्रतिनिधि ही बन गये। लोकतंत्र के 'लोकात्मा' का उन्होंने हमें परिचय कराया।

आज हमारे पास यह आर्ष दर्शन केवल 'शब्द' के रूप में है। विकराल काल आज सबको अपने मुंह में ग्रसित करने उद्यत हुआ दीखता है। परंतु जो अमृत तत्त्व है, उसे नहीं मिटा सकता। विनोबा के इस प्रातिभ दर्शन में त्रिकालक्षयी और त्रिकालजयी संजीवनी शक्ति है। रूप, ध्वनि, छंद, राग आदि सबको मूर्तिमंत करने का सामर्थ्य रखनेवाला यह 'शब्द' है। वह हमें 'अखंड' तथा 'परम' की ओर अवश्य ले जायेगा।

श्रद्धत्स्व सोम्य – किसी ऋषि ने कहा था। आइए, हम 'शब्द' की श्रद्धापूर्वक उपासना करें।

447, शिशुविहार
भावनगर (गुजरात)

– मीरा अरुण

अभिधेयं परम साम्यम्

संस्कृत में एक शब्द है – सुषम ! सुषम आकृति सुंदर होती है। पोस्टमन दौडता रहता है। दौडने से उसके पांव मजबूत होंगे, लेकिन हाथ मजबूत नहीं होंगे। वह सुषम आकृतिवाला नहीं होगा। मल्ल मुगदर घुमाता है, तो उसके हाथ मजबूत होते हैं, बैठक लगाता है, तो हाथ-पांव दोनों मजबूत होते हैं; लेकिन दिमाग में ताकत नहीं आती, तो वह सुषम नहीं, समत्वशील नहीं। सौंदर्य के ज्ञाता कहते हैं कि केवल शरीर के मसल्स (स्नायु) बढने से शरीर सुंदर नहीं बनता, शरीर सप्रमाण होता है, तभी सुंदर बनता है। जहां सुषम आकृति होती है, वहां सौंदर्य आता है। सुंदरता आती है – समत्व से ! भक्ति द्वारा निर्मलता, ज्ञान द्वारा उज्ज्वलता और समत्व के द्वारा सुंदरता आती है। इसलिए गुरुदेव ने गाया है – "निर्मल करो, उज्ज्वल करो, सुंदर करो हे।"

☆

हमने एक सूत्र बनाया है – **अभिधेयं परम साम्यम्**। ध्येय यानी ध्यान का विषय। दूर का विषय होता है तो उसे 'ध्येय' कहते हैं, नजदीक का, प्रत्यक्ष या सामने जो विषय है उसे 'लक्ष्य' कहते हैं। अभिधेय इन दोनों से भिन्न है। **कुल जीवन के चिंतन का विषय अभिधेय है**। सिर्फ ध्यान और दृष्टि का नहीं, बल्कि कृति, उक्ति आदि सबका जो विषय है, वह है अभिधेय। और वह अभिधेय है **परम साम्य**। जीवन के समूचे चिंतन को परम साम्य की दिशा में ले जाना है, इंद्रियों को उस दिशा में मोडना है, उसे लक्ष्य करना है।

जीवन का रहस्य साम्ययोग

भगवत् गीता ने अनेकों को विविध प्रेरणाएं दीं। लोकमान्य तिलक ने गीता को 'कर्मयोग' नाम दिया, तो किसी ने उसे ज्ञानयोग या 'भक्तियोग' कहा। गांधीजी ने उसे 'अनासक्तियोग' कहा। हमको गीता में से 'साम्ययोग' मिला। संभव है कि यह नाम पसंद करने में जमाने का या हमने जो काम उठाया है (भूदानयज्ञ), उसका असर काम करता हो। पर बहुत अधिक संभव तो यही है कि **जीवन का रहस्य साम्ययोग में है**। ज्ञान, कर्म, भक्ति, अनासक्ति आदि सब व्यावर्तक चीजें हैं। उनकी भी जरूरत है। वे बचानेवाली जरूर हैं, परंतु शायद विषय को बतानेवाली नहीं हैं। इसलिए हमारी दृष्टि साम्ययोग नाम पर ही स्थिर हुई, क्योंकि जीवन का वही सारसर्वस्व है। हमने जीवन का अर्थ सत्यशोधन ही मान कर कहा है – **जीवनं सत्यशोधनम्**।

अनेक प्रकार के साम्य स्थापित करने हैं। आर्थिक, सामाजिक, मानसिक साम्य भी चाहिए। लेकिन इन सभी साम्यों से परे एक साम्य है, जिसके पेट में बाकी के सारे साम्य आ जाते हैं; वह है आत्यंतिक परम साम्य। आर्थिक, सामाजिक क्षेत्र तो स्थूल क्षेत्र हैं। मानसिक क्षेत्र उनसे ऊंचा है, जो जीवन का नियंत्रण करता है। परंतु परम साम्य वह चीज है, जो वैज्ञानिक और नैतिक क्षेत्र से भी ऊंचे जाता है; यानी वह आध्यात्मिक भूमिका पर आरूढ हो जाता है। सारांश, परम साम्य यानी ब्रह्म, जो हमारा अभिधेय है।

मार्ग – अपर साम्यों की स्थापना

वास्तव में, यह जो परम साम्य है, उसे प्राप्त क्या करेंगे, वह तो दुनिया में – सर्वत्र है ही। इसलिए उसका आविष्कार ही करना है, उसे खोजना है; वह कोई बनाने या स्थापित करने की चीज नहीं। हमें आर्थिक, सामाजिक या मानसिक साम्य स्थापित करना है, परंतु परम साम्य स्थापित करने की चीज ही नहीं है। **हमें भिन्न-भिन्न अपर साम्यों की स्थापना करनी** है। अपर साम्य प्राप्तव्य है, स्थापित करनेयोग्य है। उसे स्थापित करने से उस परम साम्य का दर्शन होगा, जो पहले से ही मौजूद है। अपर साम्यों की प्राप्ति कर के परम साम्य का दर्शन होगा, तो **अभिधेयं परम साम्यम्** संपन्न हो जायेगा।

विज्ञान; आत्मज्ञान : वहि:सृष्टि; अंत:सृष्टि

दुनिया में दो शक्तियां काम करती हैं। एक है वाह्य सृष्टि और दूसरी अंदर का द्रष्टा। दोनों के मिलने से मानव-जीवन का नाटक चल रहा है। सिर्फ सृष्टि होती तो द्रष्टा के अभाव में यह नाटक नहीं वनता। द्रष्टा होता और दर्शन के लिए सृष्टि न होती तो भी वह एकाकी अपने में समाप्त हो जाता। जिसे आज हम 'जीवन' कहते हैं, वह एक नाटक-सा है; लेकिन वह सृष्टि और द्रष्टा, मिल कर वनता है।

इंद्रियां वहिर्मुख भी हैं, अंतर्मुख भी हैं। उनकी दो प्रकार की प्रवृत्तियां रहती हैं। वाह्य सृष्टि की तरफ ध्यान दे कर जो खोजें की जाती हैं, उन्हें वैज्ञानिक खोजें कहते हैं। अंतर की तरफ ध्यान दे कर जो आंतरिक खोजें होती हैं, उन्हें आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान कहते हैं। विज्ञान वह है, जो सृष्टि में – प्रकृति में चलनेवाले कर्मों के कानून की खोज करता है। आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान आत्मा-परमात्मा, जीव-ईश्वर का स्वरूप, उनका परस्पर तथा सृष्टि के साथ संवंध, इन सवकी खोज करता है। **'क्यों'** का हल आत्मज्ञान करता है, **'कैसे'** का उत्तर विज्ञान देता है। कुल मिला कर जीवन है सत्यशोधन के लिए। हमने सूत्र ही वनाया है – **जीवनं सत्यशोधनम्**।

पृथ्वी पर अनेक देश हैं, जिनमें मानव विकसित हुआ है। उनमें योरप-अमरीका जैसे देश आधुनिक और भारत-चीन जैसे देश प्राचीन माने जाते हैं। अक्सर माना जाता है कि इन प्राचीन देशों में आंतरिक खोजें अधिक हुईं। परंतु इन देशों में भी थोडे ही लोग

थे, जिन्होंने आंतरिक खोजें कीं। ज्यादातर खोजें इन प्राचीन देशों में भी वैज्ञानिक ही हुईं। खेती, अग्नि, पत्थरों और धातुओं के औजार, पशुओं का उपयोग, गणितशास्त्र, अंक गणना, तारक-नक्षत्र आदि विज्ञान की खोजें प्राचीन काल में प्राचीन देशों में ही हुईं। लेकिन आज जो मान्यता है कि वैज्ञानिक मनोवृत्ति पश्चिम में है, वह इसलिए कि आधुनिक जमाने में जो खोजें हुईं वे ज्यादातर सृष्टि विषयक हैं और ये खोजें ज्यादातर पश्चिम में ही हुई हैं। अर्वाचीन काल में पूर्व विभाग में न आंतरिक खोजें हुईं, न सृष्टिगत। यह अपेक्षाकृत तुलनात्मक विचार है। लेकिन अब फिर से भारत में नये सिरे से विज्ञान और आत्मज्ञान की तरफ जोरों से ध्यान गया है। इस जमाने में भी रमन् और जगदीशचंद्र बसु ने मौलिक वैज्ञानिक खोजें कीं। ब्रह्मविद्या में भी भारत नयी-नयी देनें दे रहा है।

युग की तीन महान देनें

इस जमाने की तीन विशेष देनें गिनी जा सकती हैं —

एक; सर्वधर्म-समन्वय और सर्व उपासनाओं के समन्वय की एक नयी दृष्टि भारत में विकसित हुई, जिसकी उद्गम-स्थली रामकृष्ण परमहंस माने जायेंगे।

दूसरी; चित्त से ऊपर के स्तरों में जा कर परमात्मा की अनुभूति पाना और फिर नीचे उतर कर उस अनुभूति में सारे विश्व को लपेट कर विश्व को ऊपर के स्तर पर चढाना यह एक

नया दर्शन यहां मिला, जिसका उद्‌गम तो नहीं लेकिन विशेष प्रकाशन श्रीअरविंद ने किया।

तीसरी; सत्याग्रह-दर्शन। अर्थात् जहां तक जीवन का ताल्लुक है, जो आध्यात्मिक तत्त्व ध्रुवतारे की तरह ध्येयमात्र थे, वे प्रत्यक्ष जीवन में अनुसरणीय हैं, अनुवर्तनीय हैं, जीवन के क्षेत्र में लागू हो सकते हैं, यह दर्शन। इसका प्रकाशन गांधीजी ने किया।

करुणामूलक साम्य, चौथी देन

ये तीनों इस जमाने की विशेष देनें हैं। अब हम नम्रतापूर्वक कहते हैं कि चौथी चीज सामने आ रही है, वह है **साम्ययोग**। यह दुनिया की मांग है, जो प्राचीन काल से चली आ रही है; लेकिन आज विज्ञान उसकी भूख बढा रहा है। गीता ने ब्रह्म की व्याख्या की है, **निर्दोषं हि समं ब्रह्म** – ब्रह्म यानी परम साम्य, समता। हमने खूब सोचा और पढा, लेकिन इससे बेहतर ब्रह्म की व्याख्या नहीं हो सकती। विज्ञान के कारण हम समता को मूर्तिमंत कर सकते हैं। भारत में वह जिस नये रूप में निकल रही है, वह है **करुणामूलक समता**। हम समझते हैं कि यह नया दर्शन प्रकट हो रहा है। प्रकाश वही पुराना है, लेकिन किरण नयी है।

साम्य करुणामूलक हो, तभी वह साम्ययोग होगा। वरना वह यांत्रिक पद्धति से लाया हुआ स्थूल साम्य हो जाता है, जो वास्तव में साम्य है नहीं। साम्य करुणामूलक न हो, तो वैषम्य पैदा होता है। उससे मानसिक वैषम्य तो आता ही है, बाह्य वैषम्य भी आता

है। रूस में साम्य की स्थापना की कोशिश की गयी; फिर भी वहां वेतनों में सत्तर-अस्सी गुना भेद है। साम्य की स्थापना कारुण्य से ही हो सकती है। साम्ययोग है शिखर, तो करुणा है मार्ग।

उपरोक्त सभी खोजों के लिए पुराने आधार मौजूद हैं। सूक्ष्मता से देखें तो मनुष्य को जो नया ज्ञान मिलता है, वह नया होता ही नहीं। सनातन ज्ञान ही किसी रूप में मौजूद रहता है, वही स्पष्ट रूप से सामने आता है, उसमें नयी चमक आती है और उसी का नाम है, खोज। जहां तक अध्यात्म का ताल्लुक है, उसमें 'इनवेन्शन' (ईजाद) नहीं, 'डिसकवरी' (खोज) होती है। प्रकाश पडता है तो नया दर्शन होता है और उसे खोज का स्वरूप आता है।

इस तरह आधुनिक जमाने की ये चार नयी खोजें हैं – (1) सर्वोपासना-समन्वय, (2) अधिचित्त पर आरोहण (यह शब्द हमने गौतम बुद्ध से लिया), (3) सत्याग्रह-दर्शन और (4) करुणामूलक साम्य – साम्ययोग। अब विज्ञान को भी जोरों के साथ आना होगा, लेकिन उसे इस आध्यात्मिक दर्शन के मार्गदर्शन में चलना होगा।

वेदांत और अहिंसा का समन्वय

हमारा अंतिम लक्ष्य साम्ययोग है और हमारी चिंतन की पद्धति समन्वय की है। समन्वय पद्धति से हमें साम्ययोग तक पहुंचना है। सर्वांगीण समग्र सत्यदर्शन और उसके साथ अहिंसा – इस दर्शन को वेदांत कहते हैं। हमें अपने जीवन और दर्शन में इन्हीं दो तत्त्वों का समन्वय करना होगा। अभी तक समन्वय की जो

कोशिश की गयी, उससे हमें एक दिशा मिल गयी। फिर भी उसमें परिपूर्णता नहीं होती, और शायद कभी होगी भी नहीं।

'मैं कौन हूं' – इस प्रश्न के जवाब में हमारे पूर्वजों ने कह दिया – 'मैं ब्रह्म हूं'। उसमें गाय-गधे, सब आ गये। यह जो व्यापक अनुभूति है, उसको 'वेदांत' कहते हैं। और, मैं ब्रह्म हूं तो मेरी कोशिश होनी चाहिए कि सबके साथ मैं समान व्यवहार करूं, इसको 'अहिंसा' कहते हैं। समान व्यवहार की तो आखिर कोशिश ही होगी; क्योंकि देह में हूं तो समान व्यवहार संभव नहीं होगा, देह विग्रह होगा। परंतु भावना से कोशिश होगी कि समान व्यवहार हो।

अहिंसा एक आचरण-पद्धति है और वेदांत एक चिंतन-पद्धति है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। आचरण की बुनियाद वेदांत और वेदांत की बुनियाद अहिंसा होगी। यह कोशिश हमारे सामाजिक जीवन में भी चलेगी। गांववाले सब एक हैं, इसकी कोशिश चलेगी।

जैसे मेरी घडी का मैं साक्षी हूं वैसे ही मेरे हाथ, कान, नाक, बुद्धि, मन का भी साक्षी हूं। उनसे अलग हो कर मैं इन्हें देख सकता हूं। इसी प्रक्रिया से मनुष्य वेदांत तक पहुंच सकेगा और पायेगा कि मैं ब्रह्म हूं।

समान व्यवहार यानी जो सबसे अधिक दुःखी है, सेव्य है उसकी ओर प्रथम ध्यान दे कर सेवा करना। यह अहिंसा का रहस्य है। इस अहिंसा तत्त्व को अब हमें सामाजिक जीवन में प्रस्थापित करना है। आज समाज में अहिंसा नहीं है, सो बात नहीं, परंतु वह गौण रूप में है। लडाई में एक ओर हिंसा चलती है और दूसरी ओर रेडक्रास सोसायटी के स्वरूप में थोडा करुणा-कार्य भी

चलता है। आज समाज में अहिंसा दासी के तौर पर है, वह हिंसा की दासी है। उसे हमें सम्राज्ञी के स्थान पर बिठाना है। अहिंसा की खोज करना मेरा जीवन-कार्य रहा है। जितना संभव हो सके, देह से, संस्थाओं से और पैसे से अलग रह कर काम करने की मेरी वृत्ति रही, इसी तलाश में कि अहिंसा की सामाजिक जीवन में किस प्रकार प्रतिष्ठा हो।

भारत की पुरातन संस्कृति

हजारों सालों से भारत में विशाल मानव-समूह काम करता आया है। अमरीका की खोज सिर्फ चार-सौ साल पहले ही हुई है, उसके बाद वहां मानव-समाज बनता गया। आज अमरीका बहुत समृद्ध राष्ट्र है। वहां यंत्र-सामग्री, विद्या आदि का बहुत अच्छा प्रसार है। जनसंख्या कम है, हर मनुष्य के पीछे बारह एकड जमीन आती है। इस तरह एक बलवान राष्ट्र के नाते दुनिया में उसको ख्याति है। परंतु वहां का समाज केवल 300 साल का ही है, इसलिए अनुभवी नहीं है।

भारत का समाज अनुभवी समाज है। चीन भी बडा और प्राचीन देश है; परंतु भारत में हजारों वर्ष पुरानी चौदह समर्थ भाषाएं हैं। हिंदुस्तान दुनिया के लिए एक आदर्श है। यहां अनेक भाषा-पंथ-जातिवाले लोग एकसाथ रहते हैं। मैं तो मानता हूं कि भारत की संस्कृति यह भगवान की हम पर कृपा है। यह वैश्वानर संस्कृति है। माने यह कि दुनिया में जितना वैविध्य है, वह सब भारत में है। भारत यानी छोटे पैमाने का विश्व ही है।

जैसे कि रवींद्रनाथ ने कहा है, भारत की संस्कृति सबको अपने में समा लेनेवाली संस्कृति है, वह शिवशक्ति है। शिव और शक्ति, दोनों का समावेश कर लेने के कारण समावेशक संस्कृति है। इसलिए यहां हम संकुचित विचार रख ही नहीं सकते। मतलब, ईश्वर ने ऐसी योजना की है कि यहां का जो 'नैशनैलिज्म' (राष्ट्रवाद) है, वह 'इंटर नैशनैलिज्म' (आंतरराष्ट्रवाद) के स्वरूप का होगा तभी आप दुनिया में टिक सकेंगे। हमें राष्ट्रवादी नहीं, महाराष्ट्रवादी यानी विश्ववादी बनना होगा। मिश्र, व्यापक संस्कृति और भौतिक दृष्टि से शस्त्रसंपन्न होने की असंभावना, ये दो वरदान भारत को प्राप्त हुए हैं। भगवान की भारत पर कृपा है कि भारत शस्त्र-शक्ति में रशिया-अमरीका की बराबरी नहीं कर सकता। यदि हम भौतिक निःशस्त्रता का स्वीकार करें, तो सामनेवाला नैतिक दृष्टि से निःशस्त्र हो जाता है। आज हमारे पास शून्य शक्ति है, परंतु अहिंसाशक्ति का निर्माण कर के हमें उसे पूर्ण शक्ति करना है।

वेद में एक मंत्र है– **पंच जना मम होत्रं जुषन्ताम्**। वेद लौकिक संस्कृत में नहीं है। जिस समय शब्द बन रहे थे, उस समय का वह ग्रंथ है। इसलिए आज के समाज के बारे में उसमें संदर्भ होगा ऐसी अपेक्षा रख नहीं सकते। उस मंत्र में ऋषि प्रार्थना करता है, "हे पंचजन! मेरे यज्ञ को आप आशीर्वाद दीजिए।" वेद में 'पंचजन' का अर्थ नहीं है। भाष्यकार कहता है कि पंचजनं यानी चार वर्ण 'प्लस' (अधिक) चारों में शामिल नहीं ऐसा मानवसमूह। मतलब, कुल के कुल मानवों का सहयोग यज्ञ में अपेक्षित है। भगवान के शंख को भी पांचजन्य कहते हैं। पांचजन्य

का अर्थ पांचों जनों के लिए प्रेरित करनेवाला। तुकाराममहाराज ने पंचजन में रक्त – लाल यानी क्षत्रिय, श्वेत यानी ब्राह्मण, पीत – पीला यानी वैश्य और श्याम यानी शूद्र बताया है। मेरी दृष्टि में रक्त यानी रेड इंडियन्स, पीत यानी चायनीज-जपानीज, श्वेत यानी यूरोपीयन्स, कृष्ण यानी हबशी आदि आफ्रिकन्स जातियां और श्याम यानी भारतीय।

वेद स्वयं तो भाष्य नहीं करता। परंतु वेद 'भारत में जन्म लिया, धन्य है' ऐसी बात नहीं करता। वेद तो कहता है, **पुत्रो अहं पृथिव्याः** 'विश्वमानुष्य' की बात करता है। पृथ्वी पर के सब मनुष्य एक हैं और हम सबका एक परिवार है, यह कहते हुए कहा, **वसुधैव कुटुंबकम्**। यहां भी कुटुंब न कहते हुए, 'कुटुंबकम्' कहा, मतलब छोटा कुटुंब। पृथ्वी के उपरांत जो ब्रह्मांड है वह सारा मिल कर पूरा कुटुंब होगा, पृथ्वी छोटा कुटुंब है। इस प्रकार की एक व्यापक दृष्टि हमारे पूर्वजों ने हमें दी।

भारत बनाया संतों ने

हजारों वर्षों के प्रयत्न के परिणामस्वरूप मनुष्य का एक 'कॉन्शन्स' – सद्-असद्-विवेक बना है। कुछ निष्ठाएं बनीं। उचित-अनुचित का ख्याल उसे आया। वह हमेशा उचित ही करेगा, सो बात नहीं, परंतु उस विषय में उसके विचार बने। अगर हम सुनेंगे कि किसी का खून हुआ है, तो पहली प्रतिक्रिया यही होगी कि खराब हुआ। बाद में तर-तम विवेक से अच्छा-बुरा का निर्णय होगा। कहीं चोरी हुई, व्यभिचार हुआ तो निःसंशय बुरा लगता है। इस

तरह कार्याकार्य-विचार मनुष्य-समाज में स्थिर हुआ। इसी को 'कॉन्शन्स' कहते हैं।

मानव का यह जो विवेक बना है, वह किसी राजा-महाराजा ने नहीं बनाया, संतों ने बनाया है। अगर ये संत-महापुरुष नहीं होते तो हम जानवर ही रह जाते। अगर उन्होंने हमें जगाया नहीं होता तो समाज का नीतिशास्त्र बना नहीं होता। संतपुरुषों की तपश्चर्या के कारण भारत एक बना हुआ है। असम में शंकरदेव-माधवदेव सतत घूमते रहे। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु निरंतर घूमते रहे। कबीर तो सतत घूमते ही रहे पंजाब से ले कर तमिलनाड तक। नानक घूमते रहे कटक से ले कर मक्का-मदीना तक। नामदेव का जन्म हुआ महाराष्ट्र में और मृत्यु हुई पंजाब में। सिक्खों के आखिरी गुरु गोविंदसिंह का जन्म हुआ पटने में और मृत्यु हुई महाराष्ट्र में। वे सतत घूमते रहे। शिव छत्रपति के गुरु रामदास-स्वामी। उन्होंने 800 ब्रह्मचारी शिष्य तैयार किये और उनको सारे भारत में भेजा। खाने के लिए कुछ साधन चाहिए तो झोली दे दी और कहा कि भिक्षा मांग कर खाओ। और पढने के लिए, उपदेश देने के लिए पुस्तक चाहिए, तो अपनी 'दासबोध' पुस्तक की प्रति दे दी। इस बात की इतनी प्रतिष्ठा बनी कि महाराष्ट्र से दूर दक्षिण में – तंजाउर में दासबोध की और झोली की आज भी लोग पूजा करते हैं। महाराष्ट्र से तंजाउर कम से कम 800 मील दूर है। इतनी दूर पदयात्रा की। दक्षिण के बडे-बडे संतपुरुष भारतभर घूमते रहे। जैन संत भी समूचे भारत में निरंतर घूमे। और बौद्ध लोग जपान तथा मध्य एशिया तक घूमे।

इन संतों का हम पर बहुत बडा उपकार है। इसलिए भारत के लोग भी इन्हें ही जानते हैं। मैं जब मेओं के पुनर्वसन का काम

कर रहा था, तब एकबार दिल्ली के नजदीक नूह गांव गया था। वहां मुसलमानों की संख्या ज्यादा थी। शुक्रवार का दिन था और मैं मस्जिद में भाषण दे रहा था। किसी संदर्भ में अकबर का नाम आया, तो मैंने लोगों से पूछा कि अकबर बादशाह का नाम जानते हो ? बोले, नहीं जानते। मैंने पूछा, अकबर लफ्ज जानते हो ? बोले, हां जानते हैं, 'अल्लाह हो अकबर, अल्लाह हो अकबर' ! दिल्ली के नजदीक, बीस मील दूर के गांव में अकबर बादशाह का नाम मालूम नहीं था। भारत में अनेक राजा-महाराजा हो गये, स्कूलों में उनकी नामावली सिखायी जाती है, परंतु देहात के लोग उन्हें नहीं जानते। भारतवासियों के हृदय का राजा एक ही है – राजा राम ! राजा राम ! बीच में अंग्रेजों के जमाने में 'राजद्रोह' के मुकदमे चलाये गये थे, तब हमने कहा था कि हिंदुस्तान में कौन राजद्रोही नहीं है ? यहां के कुल लोग राजद्रोही हैं, क्योंकि सिवा राजा राम के और किसी राजा को वे मानते ही नहीं हैं। 'मेन मे कम अॅण्ड मेन मे गो' की तरह राजा-महाराजा आयें और जायें, लेकिन हिंदुस्तान की जनता नदी के समान बहती रहती है। भारत पर प्रभाव संतों का है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक, भारत की चप्पा-चप्पा भूमि पर संतजन घूमे हैं। शंकराचार्य जैसा प्रकांड पंडित भी लोकहृदय में प्रवेश पाने के लिए **'भज गोविंदम् भज गोविंदम्'** कहते हुए गांव-गांव में पैदल घूमा। हमारे धर्मग्रंथों ने आज्ञा ही दी है – **चरैवेति चरैवेति**। संतों ने भारतभर घूम कर अखंड भारत की एक राष्ट्रीय भावना पैदा की। भारत को संतों ने बनाया है।

भारत : एक आत्मपरीक्षण

मेरा एक परीक्षण है। मैं बहुत तटस्थ बुद्धि से देखता हूं। इतिहास की तरफ देखता हूं तो मानने की इच्छा होती है कि वैदिक-युग सेउपनिषद-युग में हम आगे बढे और उपनिषद-युग के बाद गीता इत्यादि में हम और आगे बढे। बुद्ध, महावीर, उसके बाद शंकर, रामानुज, कबीर आगे-आगे बढते चले गये। फिर आधुनिक जमाने में तुकाराम, रामदास, नरसी मेहता, 300-400 साल पूर्व के संत, और आगे बढे। और अब **उनसे भी आगे हम गये हैं, ऐसा मानने की मुझे इच्छा होती है, लेकिन तटस्थ बुद्धि से देखता हूं तो संतों के युग से हम आगे बढे** हुए हैं, **ऐसा निश्चित भास मुझे होता नहीं।** बावजूद इसके कि हमारे आधुनिक जमाने के अनेक महापुरुष दुनियाभर घूमे हैं और उन्होंने कई ग्रंथ आदि लिखे हैं, जिसको हम सचमुच अध्यात्म-विद्या कहते हैं, उसमें हम संतों के युग से आगे बढे हैं, ऐसा मानने को, खूब इच्छा होते हुए भी, मैं अपने को समर्थ नहीं पाता।

भारत की स्थलकालातीत चिंतन-पद्धति

भारत पर दो प्रकार के आक्षेप लगाये जाते हैं। एक, भारत में राष्ट्रप्रेम का अभाव है और दूसरा, भारत किस तरह बना इसका कोई इतिहास आज तक किसी ने ठीक तरह से लिखा नहीं, न किसी ने सीखा ही।

हिंदुस्तान में कौन संत कब पैदा हुआ, इसका ठीक निर्णय नहीं है। 'माडर्न सेन्स ऑफ हिस्टरी' (इतिहास की आधुनिक दृष्टि)

नहीं है। संस्कृत में सब प्रकार के ग्रंथ मिलेंगे, लेकिन जीवनचरित्र और इतिहास नहीं मिलेगा। इतनी व्यापक भाषा होते हुए ये दोनों अभाव क्यों रहे? शंकराचार्य ने इतने बडे-बडे ग्रंथ लिखे, लेकिन उनमें अपने गुरु के नाम के अलावा कुछ भी नहीं है। न माता-पिता का नाम है, न जन्मस्थान का नाम। यही हालत सब संतों की है।

इसका कारण है, 'टाईम अॅण्ड स्पेस' – स्थल-काल से अलग हो कर चिंतन करने की भारत की पद्धति। भारत की यह विशेषता है।

प्रक्रिया-समन्वय की

बाहर से जितने भी लोग भाग कर भारत में आये, उन सबको यहां आश्रय मिला। जो हमला करने आये, उनको भी आश्रय मिला। अजीब बात है! आज भी हिंदुस्तान में चीनी जमात है। ईसा के पचास साल बाद सेंट थामस भारत आये और उनको यहां रहने का मौका मिला।

इस प्रकार एक 'एसिमिलेशन' (अपनाना) की शक्ति यहां है। भारत एक विशाल भारत बन सकता है। अब इसके आगे छोटे राष्ट्र की दृष्टि से सोचने से चलनेवाला है नहीं। नॅशनॅलिजम से किसी को फायदा नहीं। व्यापक सोचेंगे तो सबको लाभ होगा। मैंने एक 'फार्म्युला' (सूत्र) दिया है – "ए बी सी इज ए ट्रॅंगल" (ए बी सी का एक त्रिकोण है) और सुझाया है कि ऐसा एक त्रिकोण बनाओ। 'ए' यानी अफगानिस्तान यानी गांधार देश।

'बी' यानी ब्रह्मदेश (उस नाम में ही ब्रह्म है)। और 'सी' यानी सिलोन। अफगानिस्तान, ब्रह्मदेश, सिलोन, ऐसा एक त्रिकोण हो। इस तरह का त्रिकोण सुझा कर मैं कोई सांस्कृतिक आक्रमण की बात नहीं कर रहा हूं। मैं सब मानवों को एक ही संस्कृति से संपन्न देखना चाहता हूं। अग्नि का प्रकाश भले ही दूर तक फैले उसकी गरमी तो नजदीकवाले को ही मिल सकती है। भारत की सभ्यता की गरमी ए बी सी में महसूस होती है। तीनों की संस्कृति एक है, भौगोलिक ख्याल से भी एक है। तो भारत की चिंतन-पद्धति में कुछ विशेषता है, इधर ध्यान खींचना चाहता हूं। और कहना चाहता हूं कि हमारी शक्ति तोडने के काम में नहीं, जोडने के काम में लगनी चाहिए। जोडनेवाली शक्तियों का हमें इजहार करना चाहिए। अपने लिए मैं यह कह सकता हूं कि मैंने जीवनभर जो भी काम किये, वे सबके सब दिलों को जोडने के ख्याल से किये। भूदान के जमाने में भी मैं कहता था कि मैं जमीन के टुकडे करने नहीं आया, मैं दिलों को जोडने आया हूं।

हिंदुस्तान का सारा जीवन-विकास ही समन्वय की पद्धति से हुआ है। यहां पर जो भी लोग बाहर से आये, चाहे आश्रय के लिए हो, चाहे आक्रमण के लिए, उन सबकी अच्छाइयों का समन्वय करने की कोशिश हिंदुस्तान ने की। परिणामस्वरूप भारत की संस्कृति उत्तरोत्तर विकसित और संपन्न होती गयी। वेदों में जो बीजरूप में था, उसका फल है आज का भारतधर्म! वैदिक धर्म की तुलना में वह बहुत ही परिपुष्ट है। यह सब समन्वय के कारण हुआ है। वह प्रक्रिया आज भी जारी रहनी चाहिए। भारत

के मुस्लिम और ईसाई धर्म दुनिया के मुस्लिम और ईसाई धर्म से कुछ अंशों में भिन्न हैं। ब्रह्मविद्या का आधार और जीवमात्र के लिए अहिंसा का विचार, ये दो बातें उनमें दाखिल हुई हैं। इस तरह समन्वय की प्रक्रिया बराबर जारी रही है। इस प्रक्रिया के पीछे जो दर्शन है, उसके अध्ययन के तथा प्रत्यक्ष प्रयोग के लिए बोधगया में एक आश्रम की स्थापना की है, जिसका नाम ही रखा है, समन्वय आश्रम।

यहां यह कहने की तो जरूरत नहीं रहनी चाहिए कि समन्वय केवल अच्छाइयों का ही हो। अच्छाई और बुराई का समन्वय संभव नहीं। जैसे जातिभेद बुराई है तो उसे तोड़ना ही है। उसके साथ कोई समझौता नहीं हो सकता।

सत्य-प्रेम-करुणा

भारत के लोगों ने अपने अनुभव से, मंथन कर के यह तय किया कि सबसे श्रेष्ठ गुण है सत्य! जिस समाज में सत्य नहीं होगा उस समाज में व्यवहार के लिए आधार नहीं रहेगा। समूचे भारत में सत्यनिष्ठा की महिमा गानेवाली हरिश्चंद्रादि की कथाएं चलती हैं। धर्म की पहली आज्ञा ही है, **सत्यं वद धर्मं चर। नास्ति सत्यात् परो धर्मः।** ऐसे वचन हमारे साहित्य में हैं, इसलिए जीवन का पहला मूल्य है – सत्य! लेकिन हम देखते क्या हैं? जीवन में कभी भी असत्य का उच्चारण न करनेवाला मनुष्य विरला ही है। सत्य की महिमा मान्य है, पर व्यापार-धंधा या अन्य व्यवहार में

मनुष्य असत्य बोलता है। सत्य का परम मूल्य मान्य किया लेकिन असत्य का प्रयोग सदैव करते रहते हैं।

तो क्या लोगों की नीतिमत्ता बिगड गयी है? नहीं। आज की समाजव्यवस्था ही गलत है। सारी अर्थरचना गलत बुनियाद पर खडी है। वास्तव में सत्य का पालन सरल है, असत्य का कठिन है। परंतु गलत समाज-व्यवस्था के कारण आज असत्य चल पडा है। समाज को असत्य प्रिय नहीं है। अगर ऐसा होता तो असत्य आचरण करनेवाले मनुष्य के प्रति समाज में आदरभाव होता। परंतु आज भी आदरभाव तो सत्य का पालन करनेवाले व्यक्ति के प्रति ही है। भारत में आज भी घर-घर में रामायण चलती है। हमारे अनुभवी पूर्वजों ने सत्य का मूल्य श्रेष्ठ माना और राम को उसका अवतार माना। फिर आया कृष्णावतार, जिसमें प्रेम प्रकट हुआ। तीसरा मूल्य है करुणा। बुद्ध भगवान करुणा के अवतार थे। प्रेम और करुणा की शक्ति यानी अहिंसा की शक्ति।

धर्म, जाति, संप्रदाय, भाषा, पक्ष ये सारी उपाधियां तोडे बिना अहिंसा की शक्ति के विकास के लिए हमारी बुद्धि काम नहीं देगी। सूर्यवत् उदासीन हुए बिना हम अहिंसा की खोज नहीं कर सकते। हमें सबसे समान भाव से निर्लिप्त रहना चाहिए। हम सबके अभिमुख हों, सबसे प्यार करें, लेकिन सब उपाधियों से अलग रहें। लोग कहते हैं कि स्नेह-संबंध करना चाहिए। पर मैं कहता हूं कि स्नेह बढना चाहिए, संबंध की जरूरत नहीं। जैसे कि तुलसीदासजी ने कहा है, हेतुरहित अनुराग, वैसा प्रेम बढना चाहिए।

अहिंसा कोई 'निगेटीव' (अभावात्मक) चीज नहीं है, वह एक भावात्मक चीज है। अहिंसा का पहला अर्थ है, निर्भयता। अहिंसा

में विश्वास रखनेवाला न किसी से डरेगा, न किसी को डरायेगा। दूसरा अर्थ है, प्रेम और सहयोग। आज के युग में 'सहयोग' की शक्ति प्रकट करनी होगी। रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि हम प्रेम और सहयोग से रहेंगे तभी आगे बढ पायेंगे। हमें अपनी सरकार का गठन भी सहयोग के आधार पर खडा करना है। अहिंसा का तीसरा अर्थ है, रचनात्मक वृत्ति पर श्रद्धा। सामनेवाला गुस्सा करेगा तो हम प्रेम करेंगे। सामनेवाला प्रेम करता है और वदले में हम भी प्रेम करते हैं, यह तो जानवर भी करेंगे। मनुष्य को तो प्रतिरोधी प्रेम करना चाहिए। मतलब, सामनेवाला तिरस्कार करेगा तो भी हम तो उसे प्यार ही करेंगे। आक्रमण केवल हिंसा में नहीं, प्रेम में भी होता है। हम प्रेमाक्रमण करेंगे तभी अहिंसा की शक्ति प्रकट होगी।

अहिंसा शब्द का उच्चारण बहुत पुराने जमाने से होता रहा है। मनुष्य के अलावा अन्य प्राणियों को यह विचार सूझता हो, ऐसा दीखता नहीं। मुमकिन है, सूझता भी हो, लेकिन हम उसे पहचान न सकते हों। मांसजन्य वस्तु का आहार अपने लिए उचित नहीं, वनस्पति ही खाना चाहिए, ऐसा विचार गाय को छूता होगा या नहीं, मालूम नहीं, लेकिन छुआ हुआ दीखता नहीं है। ऐसा दीखता है कि उसकी देहप्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वह वनस्पति ही ग्रहण करती है और प्राणिजन्य वस्तु पसंद नहीं करती।

लेकिन मनुष्य अति प्राचीन काल से अहिंसा का विचार करता आया है। मेरी श्रद्धा अहिंसा के व्यापक अर्थ में है। आत्मा '**न हन्ति, न हन्यते**' है। वह मारता नहीं, मरता नहीं; यह आत्मा का

स्वभाव है । यही अहिंसा है । हम जितना आत्म-स्वभाव के नजदीक जायेंगे, उतनी अंत:तुष्टि और शांति मिलेगी और जितने दूर जायेंगे, उतनी अशांति मिलेगी ।

इस तरह अहिंसा का विचार चला । परंतु आत्मरक्षण के लिए की गयी हिंसा को, अन्याय के विरुद्ध की गयी हिंसा को अहिंसा में गिना गया । समाज-शास्त्रकारों ने अपराधियों को तरह-तरह का दंड देना मान्य किया, उसके मूल में भी करुणा है । कम्युनिस्टों में भी करुणा है, उन्होंने गरीबों के हित में हिंसा मान्य की है । हमें सत्य का पालन करते हुए सभी प्रकार की हिंसा से निवृत्त होना है । इसलिए हम परमेश्वर से सिर्फ प्रेम, या सिर्फ करुणा नहीं मांगते हैं । हम कहते हैं कि हे प्रभो, हमें सत्य दे, प्रेम दे, करुणा दे । सत्य, प्रेम और करुणा मिल कर एक पूर्ण विचार बनता है ।

सत्य, प्रेम, करुणा, ये हमारे देश के तीन अमूल्य रत्न हैं । उनका मूल्य स्थापित करने के लिए हमने एक के बाद एक तीन अवतारों की रचना की । उन मूल्यों को अब टिकाना है । अब ज्यादा वेदांतचर्चा नहीं, अर्चा करनी है । तुकाराममहाराज कहते हैं, **अवघें झाले ब्रह्मज्ञान । परी मेळवण बहु माजी ।** ब्रह्मज्ञान में इतनी मिलावट हो गयी है कि स्वच्छ, निर्मल कुछ बचा नहीं । समाज में सत्य, प्रेम और करुणा को प्रतिष्ठित किये बिना समाज की पारमार्थिक उन्नति तो होगी नहीं, ऐहिक उन्नति भी नहीं होगी । मुझे स्पष्टरूप से दिखायी दे रहा है कि साम्ययोग, ग्रामस्वराज्य की स्थापना किये बिना समाज सुखी नहीं होगा । मैं अपनी सायंसभा की प्रार्थना में हररोज लोगों से मौन प्रार्थना

करवाता हूं, जिसमें कहता हूं कि हम सब लोग सत्य-प्रेम-करुणा का गुणचिंतन करेंगे। सत्य, प्रेम, करुणा के तीन अवतार एक के बाद एक भारत में हो गये, अब हमें **सत्य-मूलक प्रेमप्रधान करुणा** का राज्य स्थापित हो, ऐसी परिस्थिति दुनिया में पैदा करनी है। '**सत्यमेव जयते**', हमारी सरकार का स्वीकारा हुआ राष्ट्रीय सिद्धांत है। उसके लिए सत्यमय साधनों को विश्वासपूर्वक पनपाना और इस्तेमाल करना है।

शस्त्रशक्ति-शब्दशक्ति आमने सामने

दुनिया में जो शक्तियां काम करती हैं, उनमें लोकमान्य शक्तियां दो हैं – शस्त्रशक्ति और शब्दशक्ति! किसी द्रष्टा पुरुष की वाणी से देश, समाज और दुनिया को शब्द मिलता है और वह सबकी श्रद्धा अपनी तरफ खींच लेता है। यानी सब श्रद्धाएं उस शब्द में एकत्र हो जाती हैं और शब्द शक्तिशाली बन जाता है। अन्यथा कई शब्द यथार्थ होते हुए भी, सही या ठीक होते हुए भी दुनिया में बिखर जाते हैं। उन शब्दों से शक्ति का प्रवाह नहीं बहता।

शब्द सूझता है किसी ऋषि को, किसी चिंतनशील अनुभवी पुरुष को या किसी प्रयोगशील योगी को। लेकिन ऐसा नहीं होता कि ऐसा हर शब्द सबकी भावनाओं को आकृष्ट कर ही सकेगा, ऐसी शक्ति उसमें होगी ही; बावजूद इसके कि वह ऋषिवाणी हो, सत्यदर्शन हो, या उसमें दुनिया की भलाई की संभावना हो। किसी द्रष्टा के या ऋषि के शब्द के साथ ईश्वर अपना संकल्प जोड देता

है, तब वह सबकी श्रद्धाओं को आकृष्ट कर सकता है। यह जो अनेकों की श्रद्धा एकत्र होती है, उसको मैं ईश्वरकृति मानता हूं। ऐसा भी नहीं है कि किसी एक व्यक्ति के शब्द में ईश्वर जिंदगीभर अपनी प्रेरणा भरता रहे। लेकिन जब तक वह जुड़ी रहती है तब तक दुनिया उसके पीछे चलती है। समाज को आगे बढ़ने के लिए ऐसी शब्दशक्ति की अत्यंत जरूरत है।

नित्य-प्रसवशील शब्द

शब्दशक्ति की कसौटी यह है कि उससे जीवन-परिवर्तन की प्रेरणा मिले। विचार-प्रकाशन के लिए शब्द आते हैं। शब्द आकाश से आते हैं। शब्द आकाश का गुण है। आकाश के नीचे घूमते हैं तो शब्द सूझते हैं। शब्द में से शब्द, इस प्रकार नये-नये शब्द निर्माण होने चाहिए। शब्द में शब्द-प्रसव-शक्ति होनी चाहिए। उसी को प्रतिभा कहते हैं, जिसमें से नित्य नया प्रसव होता है।

मनुष्य की वाणी जितनी विकसित होगी उतना उसका जीवन विकसित होगा। कुल जीवन का आधार वाणी है। साहित्य का संबंध वाणी से आता है। साहित्य शब्द ही अपनी व्याख्या करता है कि मैं सहित चलनेवाला हूं। मनुष्य की बुनियाद में सत्य है। जो है, वही सत्य है। सत्य के साथ चलेगा वह साहित्य। जहां शब्द-शक्ति कुंठित होगी, वहां शस्त्रशक्ति जोर करेगी और वहां साहित्यिक

फीके हो जायेंगे; क्योंकि साहित्य का सारा दारोमदार शब्द पर होता है। शब्द ही शस्त्र है और शब्द ही रत्न है।

शंकराचार्य पूछते हैं, किनकी वाणी अमोघ होती है? जिनमें सत्य, मौन होता है और जो शांति रखते हैं, उनकी वाणी अमोघ होती है – **केषां अमोघ वचनम्? ये च पुनः सत्य-मौन-शमशीलाः।** शक्ति सत्य, संयम और शांति में है। साहित्य की शक्ति किसमें है? मैं कहूंगा, **अहिंसा में**। अनाक्रमणकारी शब्दरचना में अहिंसा होती है। इसलिए काव्य ध्वनिरूपेण प्रकट होता है। साहित्य में हृदय-प्रवेश करने की जो अप्रत्यक्ष शक्ति है, वह मधुरता, मार्दव अहिंसा में, नम्रता में है और प्रत्यक्ष शक्ति है सत्य में। सत्य और अहिंसा के बिना वाणी समर्थ साबित नहीं होगी।

नया अर्थ भरना – क्रांतिकार्य

ऋग्वेद दुनिया का शायद पहला ग्रंथ है। भारत का तो निःसंदेह है ही। उसके सैकडों शब्द आज भी हमारी भाषा में हैं। उसका पहला मंत्र **अग्निमीळे पुरोहितम्**। उसके अग्नि और पुरोहित, ये दो शब्द आज भी हमारी भाषाओं में घुलेमिले हैं। ऐसे शब्द हजार तक मिल सकते हैं। मैं ऐसी भाषा दूसरे किसी देश की नहीं जानता, जिसमें पांच हजार साल पहले के शब्द आज भी चलते हों।

इसका अर्थ यह है कि इस देश में एक ज्ञान-विचार प्रकट हुआ और वह प्रवाहित होता रहा। पुराने शब्द टूटे नहीं। उनमें नया अर्थ भर दिया गया। इसका नाम है प्रवाह। उस जमाने में

'लाउड-स्पीकर' जैसी भौतिक चीज नहीं थी, इसलिए उस प्रकार के शब्द उसमें नहीं मिलेंगे। ऐसे शब्दों का मानव मन के साथ कोई संबंध नहीं। मानसिक शब्द संस्कार और सभ्यता के सूचक होते हैं। जहां ज्ञानपरंपरा अखंड नहीं रहती, जहां एक जमाने का प्रभाव दूसरे जमाने के प्रभाव के सामने एकदम क्षीण हो जाता है, वहां ऐसी परंपरा नहीं चलती। अंग्रजों के आने से भी यहां का विचार-प्रवाह खंडित नहीं हुआ। उसकी पूर्ति ही हुई। यदि ऐसा होता तो शब्द भी खंडित होते। लेकिन मानसिक शब्द वैसे ही चले आये।

'यज्ञ' शब्द ही लीजिए। एक जमाने में 'यज्ञ' में बकरे का बलिदान दे कर ब्राह्मण भी उसका प्रसाद सेवन करते थे। परंतु मांसाहार-परित्याग का जमाना आया तो करोडों लोगों ने मांसाहार छोडा। पिछले 50-60 सालों से भारत के इस महान विचार के प्रभावस्वरूप पश्चिम के देशों में भी मांसाहार-परित्याग का आरंभ हुआ है। लेकिन, यहां बकरे का बलिदान रुका तो भी 'यज्ञ' शब्द खंडित नहीं हुआ। एक नया विचार उसमें आया, जिसने पुराने अर्थ को तोड कर समाज को आगे बढाया। पर अगर यह शब्द ही खंडित हो जाता तो ज्ञानपरंपरा ही खंडित हो जाती। जमाने ने एक नया अर्थ 'यज्ञ' में भर दिया कि समाजसेवा के लिए जो त्याग होता है, वह 'यज्ञ' ही है। मनुष्य में कुछ पशु-अंश भी रहता है। काम-क्रोध-लोभ-मोह, यह मानवता नहीं, पशुता है। इस 'पशुत्व' का बलिदान ही सच्चा बलिदान है। यह एक आध्यात्मिक क्रांति है कि यज्ञ में बाह्य पशु के बदले इस पशुत्व के बलिदान का

स्वीकार हुआ, जिसमें पुराने शब्दों को तोडे बिना समाज आगे बढा। अगर शब्द टूटते तो जीवन का प्राणरस भी खंडित होता।

वृक्ष के साथ चिपके रहने से ही शाखाएं सजीव रह सकती हैं। वृक्ष है प्राचीन परंपरा और शाखाएं हैं नये संस्कार। हम नये संस्कार ग्रहण करें, लेकिन प्राचीन परंपरा से टूट कर नहीं। परिणामस्वरूप एकरसता भी रहेगी और प्राचीन परंपरा भी खंडित नहीं होगी। आम की गुठली का संबंध उसके स्कंध, शाखा, फूल, फल आदि सबसे है, सबका विभिन्न उपयोग है। सबके रंग, रूप, आकार और उपयोग में फरक जरूर होगा, परंतु अंदर का प्राणरस सबमें एक है। इसी तरह पुराने जमाने के साथ हमारा जो संबंध है, वह भी अखंडित रहना चाहिए। जहां समाज का अखंडित विकास होता है, वहां भी इसी तरह प्राचीन काल से आधुनिक काल तक अनुसंधान बना रहता है। **पुरानी परंपरा का स्पर्श शक्ति प्रदान करता है और नया विचार माधुर्य उत्पन्न करता है। यह अहिंसक क्रांति की प्रक्रिया भारत में चली आयी है।**

भूदान में जो 'दान' शब्द है, वह भिक्षा नहीं है। हम भिक्षा मांगने नहीं, दीक्षा देने निकले हैं। दान यानी '**दानं संविभागम्**।' शंकराचार्य और बुद्ध, दोनों ने दान का यह अर्थ समझा कर कहा कि समाज में संपत्ति रुधिराभिसरण की तरह बहती रहनी चाहिए। उसका सम्यक् विभाजन होना चाहिए। इस सम्यक् विभाजन से न कोई अहंकारी, न कोई दीन बनता है। दोनों ऊंचे चढते हैं।

हमारी अहिंसक क्रांति

हम पुराने समाज से भिन्न एक नया समाज बनाना चाहते हैं। हम सुधार करना नहीं, क्रांति करना चाहते हैं। लेकिन वह इस तरह करना चाहते हैं कि सबका सहयोग मिले। यह सहयोग पुराने शब्द तोडने से नहीं, उनमें नया अर्थ भरने से मिलेगा और उससे बुद्धिभेद नहीं होगा। क्रांतिकारी विचार की यही खूबी होती है कि वह पुराने विचार में से नव विचार में कुशलतापूर्वक प्रवेश करता है। इसमें 'शब्द' कायम रखने की ही नहीं, बल्कि अर्थ बदलने की सूक्ष्म प्रक्रिया है।

इस प्रकार 'शब्द' एक बहुत बडी ताकत है और हमें उसकी भी उपासना करनी होगी। हमने जगत् की विविध महान शक्तियां बतायी हैं, उनमें 'शब्द शक्ति' की भी गणना की है।

स्थल-काल से ऊपर उठें

हमको 'टाईमलेस थिंकिंग' – कालातीत चिंतन करना भी आना चाहिए। दुनिया में केवल तीन परिमाण (ऊंचाई, लंबाई, चौडाई) नहीं होते। उनके अलावा और एक चौथा परिमाण, 'फोर्थ डायमेन्शन' भी है, जो सबको जोडता है और जिसका दर्शन तत्त्व-ज्ञानी और वैज्ञानिक, दोनों को हो रहा है। कालातीत चिंतन नहीं होगा तो हमारी दृष्टि कुंठित हो जायेगी और सौंदर्य का विकास नहीं होगा।

एक जमाने में जो तत्त्व एक-दूसरे को तोडनेवाले थे, वे ही इस जमाने में जोडनेवाले बन गये। समुद्र ने आज देशों के बीच अंतर कम कर दिया है। इसका कारण केवल जहाजों का आविष्कार नहीं है। दुनिया में विविध जगहों पर आज करुणाकार्य चल रहा है। इन सबका मानसिक बोध चतुर्थ परिमाण से होता है। जब ये सारे साधन नहीं थे, तब भी वह काम करता था, परंतु अब वह अधिक सक्रिय हुआ है। अरविंद आश्रम में लोग विश्व से भी अधिक व्यापक दृष्टि से सोचते हैं। रवींद्रनाथ को विश्वभारती का ही विचार सूझा। हम 'जय जगत' का नारा दे रहे हैं। जोडनेवाले तत्त्व काम कर रहे हैं। इसलिए हमें स्थलकालातीत हो कर व्यापक चिंतन की आदत डालनी चाहिए।

साम्ययोगी विचार : जोडने का विचार

बहुत सारे विचार कुछ हद तक जोडते हैं, लेकिन उसके बाद तोडते हैं। मिसाल के तौर पर, राष्ट्रवाद राष्ट्र के भीतर की ताकतों को जोडता है, लेकिन दूसरे राष्ट्रों से अपने को अलग करता है। जातिवाद भी इस तरह दो टुकडे करता है। इसी तरह पंथवाद, पक्षवाद, धर्मवाद अपने और दूसरे, ऐसे दो विभाग करते हैं। आजकल तो अध्यात्मवाद भी दो टुकडे करने लगा है कि एक ओर व्यक्ति है और दूसरी ओर जगत है। इस प्रकार के दो टुकडे किये बिना विचारकों का समाधान नहीं होता है। अद्वैत विचार ही एक ऐसा विचार निकला, जिसने जीव, जगत और परमेश्वर

में अभेद चाहा। लेकिन वह विचार की हद तक ही सीमित था। जहां विचार को व्यवहार की सत्ता और पारमार्थिक सत्ता, इन दो सत्ताओं में बांटा, वहां दो टुकडे हो गये।

इस जमाने में सर्वोदय का विचार सबको जोडनेवाला विचार है। इस विचार ने व्यक्ति के देहकार्य, सेवाकार्य और मुक्तिकार्य, तीनों को एक कर दिया है। स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ का भेद मिटानेवाला यह नया दर्शन हमें मिला है। मतलब यह नहीं कि यह हमारा बनाया हुआ दर्शन है, ऐसा कोई अहंकार हमें है। लेकिन पुराने दर्शनों की खूबियां और खामियां देखने का मौका मिला है, तो उन खामियों को टाल कर और खूबियों को ले कर – उनमें नयी खूबियां जोड कर यह नया दर्शन बना है। मेरे जीवन में जितने भी काम हुए, सभी दिलों को जोडने के एकमात्र उद्देश्य से हुए।

जोडने के लिए, परस्पर-हृदयों को जोडने के लिए गुणग्रहण करना होगा। हमें यह आदत डालनी होगी कि हम सभी का गुण ही देखें। जैसे लोहचुंबक लोहे के कणों को अपनी ओर खींच लेता है, वैसी हमारी गुणचुंबक वृत्ति बन जाये। इनसान के दिल के अंदर खजाना भरा है। पैसे का नहीं, गुणों का खजाना दिल की गहराई में है। ऊपर-ऊपर तो बाहर की हालत की वजह से कुछ दोष दिखायी देते हैं, जैसे फल के ऊपर के छिलके पर हवा का असर होता है। परंतु मनुष्य-हृदय गहराई से खोजा जाये तो अंदर गुणों का खजाना ही मिलेगा। एक पिता ने मरते समय अपने बच्चों से कहा कि तुम्हारे लिए खेत में खजाना गाडा हुआ है। पिता की मृत्यु के बाद बच्चों ने सारा खेत गहरा खोद डाला,

लेकिन कुछ मिला नहीं। बारिश आ जाने के बाद, लेकिन, उस गहरी खोदाई के कारण फसल दस गुना आयी। तब बच्चों की समझ में बात आयी कि खजाने के मानी क्या थे ! ऐसे ही हर इन्सान के दिल को खोदेंगे तो खजाना मिलेगा।

दिल खोदने के लिए जिस कुदाली की जरूरत है, उसका नाम है **विश्वास**। विश्वास रखने पर जो मिलेगा, वह अन्यथा नहीं मिलेगा। इन्सानियत पर विश्वास रखने से हृदय में छिपी हुई भगवान की मूर्ति बाहर प्रकट होती है। विश्वास एक अत्यंत महत्त्व की शक्ति है। बच्चे का मां पर इतना गहरा विश्वास होता है कि मां जो भी कहती है, बच्चा उसे मान लेता है। मेरी मां ने मुझ पर विश्वास रख कर कहा कि तुम मेरे लिए मराठी में गीता लिख दो, तो मुझसे वह काम हो पाया और गीताई प्रकट हो सकी। यह विश्वास का चमत्कार है।

स्वराज्य के बाद अब साम्ययोग

इस प्रकार हमारे सामने एक बहुत बडी चुनौती है। भारत की आजादी की लडाई इस ढंग से लडी गयी कि सारी दुनिया का ध्यान भारत की ओर खींचा गया और दुनिया में भारत को प्रतिष्ठा मिली। हम उस प्रतिष्ठा को बढाना चाहते हैं और हमारे सामने नया समाज बनाने का काम है। हम हमारे समाज को नैतिक समाज ना चाहते हैं, जिसमें हरएक व्यक्ति अपनी शक्ति समाज को समर्पित करे।

हरएक युग के लिए नये आदर्श और नये कार्य मिलते रहते हैं। शास्त्रों में कहा है – **अचित्तं ब्रह्म जुजुषः युवानः।** युवा ऐसे ब्रह्म का चिंतन करते हैं, जिसका चिंतन पहले कभी नहीं हुआ था। नये युग के लिए नया ब्रह्म। जिस समाज के सामने नया ब्रह्म नहीं, वह क्षीण होता है। पहले हमारे सामने 'स्वराज्य' का ब्रह्म था, अब हमारे सामने 'सर्वोदय' का ब्रह्म है। हमें इतिहास पढना नहीं, बनाना है।

सर्वोदय एक अर्थघन शब्द है। उसमें क्रांतिकारिता भी है। सर्व का उदय तब होता है, जब समाज में पारस्परिक हितविरोध न हो। लेकिन आज ऐसा कृत्रिम जीवन बन गया है कि उसमें परस्पर हित-विरोध खडा हो गया है। परिवार में ऐसा हित-विरोध नहीं होता है। परिवार का यह न्याय समाज पर लागू करना, यही 'सर्वोदय' है। भारत में तो शब्द चलता है, **सर्वभूतहिते रताः।** यहां भूतमात्र के हित की बात सोची गयी। लेकिन मानव का कार्य तो मानव से ही शुरू होगा, इसलिए कम से कम मानवसमाज में समान हित स्थापित हो। हमारे संस्कृत ग्रंथ में राग-द्वेष-रहित व्यक्ति के लिए 'सर्वोदय तीर्थ' शब्द इस्तेमाल किया गया है।

साम्ययोग में धर्म-विचार, अर्थ-विचार और विज्ञान-विचार, तीनों इकट्ठा हुए हैं। धर्म-विचार करुणा सिखाता है; अर्थ-विचार अर्थोत्पादन बढाने की बात सिखाता है और विज्ञान सिखाता है कि सहयोग ही से शक्ति पैदा होती है। विज्ञान शक्ति की, अर्थशास्त्र संपत्ति की और धर्म शुद्धि की शोध करता है। ये तीनों चीजें साम्ययोग में हैं।

एक-एक जमाने की एक-एक प्यास होती है। इस जमाने की प्यास है. साम्ययोग। नौकर को कायम नौकर रख कर कोई मालिक भले ही उसे सब तरह के सुख पहुंचाये, पर उतने से इस जमाने का समाधान नहीं हो सकता। मालिक जब नौकर को अपने आधे सिंहासन पर बिठायेगा, तभी जमाने का समाधान होगा। एक जमाने में दास्यभक्ति अच्छी मालूम होती थी, परंतु आज के जमाने को भूख है, **सख्य-भक्ति की** !

सारी दुनिया में नया युग आ रहा है। इस युग में **शिवो भूत्वा शिवं यजेत्** ही करना होगा। भगवान शिव अपने भक्तों को शिव बना कर प्रेम से अपनी सत्ता चलाते हैं। प्रेम की सत्ता एक ऐसी सत्ता है, जो किसी सम्राट के हाथ में भी नहीं होगी।

चार प्रवाह

दुनिया में निरंतर चार प्रवाह काम करते हैं। यह प्रवाह-चतुष्टय यानी ईश्वर-प्रवाह, काल-प्रवाह, समाज-प्रवाह और व्यक्ति-प्रवाह। इनको चार प्रेरणाएं भी कह सकते हैं।

ईश्वर-प्रवाह में ईश्वर सबको अपनी ओर खींचता है। मुझे 'कृष्ण' शब्द अच्छा लगता है। 'कृष्ण' यानी खींचनेवाला, आकर्षण करनेवाला। यद्यपि ईश्वर ने दुनिया में इतनी सारी विविधता पैदा की है, सबको अंत में एक स्थान पर पहुंचना जरूरी है और इसलिए ईश्वर सबको खींच रहा है। अतएव स्पष्ट है कि ईश्वर का प्रवाह **एकता** की तरफ है। हम अनेकता का अनुभव ले कर, अनेकता से संपन्न हो कर एकता में प्रविष्ट हों। यानी अनेकता

एकता की विरोधी नहीं है। अनेकता एकता की परिपुष्टि के लिए, उसकी व्यापक अनुभूति के लिए है। तो अनेकत्व से संपन्न हो कर एकत्व में जाने की जो प्रक्रिया है, उसकी ओर ईश्वर हमें खींच रहा है।

दूसरा है, काल-प्रवाह। अगर ईश्वर-प्रवाह से काल-प्रवाह विपरीत जायेगा, यानी वह एकत्व का खंडन करेगा तो मानवों का अनेक प्रकार से संहार होगा। कभी-कभी वैसा प्रसंग आता भी है। लेकिन आज विज्ञान के कारण काल भी सबको एक करना चाहता है। इसलिए ईश्वर-विरोधी कोई चीज मानी ही नहीं जा सकती। सभी उसके अंतर्गत है। जैसे व्यक्ति अगर समाज के विरुद्ध जायेगा तो वह खतम हो जायेगा, वैसे समाज अगर काल के विरुद्ध जाता है तो समाज मार खायेगा।

समझने की बात है कि यह काल-प्रवाह विज्ञान के कारण बनता है। दुनिया को बनानेवाली दो प्रकट शक्तियां विज्ञान और शब्द हैं। अगर विज्ञान का दुरुपयोग होगा तो वह ईश्वर के खिलाफ जायेगा, इसलिए मनुष्य का संहार होगा। एक पुराना शब्द है – **कालनेमि**। भगवान काल को खतम करनेवाला है। इसका मतलब यह है कि काल ने जो मर्यादा स्थापित की है, उसे तोडनेवाला है। अगर यह कालमर्यादा ईश्वर के मूल संकल्प, एकत्व के खिलाफ जाती है, तो निश्चय ही वह उसे तोडेगा।

तीसरा है, व्यक्ति-प्रवाह। हरएक मनुष्य अपना भला चाहता है। उसकी अपनी कुछ आवश्यकताएं होती हैं, जिनकी पूर्ति होनी चाहिए। इसलिए हरएक मनुष्य में एक स्वार्थप्रेरणा हमेशा काम करती रहती है। कम-ज्यादा मात्रा में वह हरएक में होगी ही और कायम रहेगी। उसके बिना व्यक्ति का विकास भी नहीं होगा

और व्यक्ति का लाभ भी समाज को नहीं मिलेगा। इसलिए व्यक्ति में स्वार्थप्रेरणा हमेशा रहेगी और रहनी भी चाहिए। स्वार्थ की यह प्रेरणा दिन-ब-दिन उज्ज्वल होती जायेगी और उससे ऊंची प्रेरणा के साथ एकरूप होगी तो समाज को लाभ होगा।

चौथा है, समाज-प्रवाह। आज की सामाजिक आवश्यकता मनुष्य को एक प्रेरणा देती है। अपने समाज, जाति या राष्ट्र को स्वतंत्र करने की प्रेरणा आज है। उसके साथ-साथ कुछ एकात्मता की भी प्रेरणा है। जो राष्ट्र स्वभावतः एक हो सकते हैं, उन्हें एक होना चाहिए और अपनी-अपनी आजादी और सभ्यता की पद्धति कायम रखनी चाहिए। आज यह एक सामाजिक प्रेरणा है। तो स्वार्थभावना अगर इसके खिलाफ जायेगी तो वह टकरायेगी। इसलिए राष्ट्र और स्वार्थभावना, समाज और व्यक्ति-प्रवाह में सामंजस्य पैदा करना होता है।

इस प्रकार ये चार प्रवाह हैं और ईश्वर की आकर्षण-शक्ति दुनिया में काम कर रही है। हमारी इच्छा के खिलाफ भी वह हमें खींच लेगा। लेकिन अगर हम उसके खिलाफ जायेंगे तो अनेक प्रकार की तकलीफ के साथ हम वहां जायेंगे। लेकिन सभी जायेंगे और वहीं पहुंचेंगे।

आखिर यह सब करना होगा। हम 'वादी' नहीं हैं, 'कारी' हैं। प्रत्यक्ष कर्म, निरंतर चिंतन और भक्ति के योग से यह काम होगा। कार्यक्रम न रहा तो भक्ति हवा में जायेगी और ज्ञान वीर्यहीन बन जायेगा। भक्ति के विना कार्यक्रम शुष्क और ज्ञान उन्मत्त हो जायेगा। ज्ञान न हो तो कर्म में जडता आयेगी और भक्ति गलत दिशा में जायेगी। इसलिए 'साम्ययोग' प्रस्थापित करने के लिए भी इन तीनों का योग जरूरी है।

अभिनव विज्ञान-युग : अभिनव अहिंसा

सृष्टि के मूल स्रोत में अव्यक्त शक्तियां हैं, यद्यपि सृष्टि व्यक्त है। हम केवल व्यक्त को ही देख सकते हैं। परंतु चिंतन से अव्यक्त का भाव होता है। व्यक्त को देखते ही अव्यक्त का दर्शन हो, तब विज्ञान का उदय हुआ समझना चाहिए। दोनों एकसाथ दीखना आवश्यक है। बिना ज्ञान के केवल व्यक्त ही दीखता है। ज्ञान में केवल अव्यक्त ही दीखता है। परंतु विज्ञान में व्यक्त और अव्यक्त, दोनों दीखते हैं। रज्जु-सर्प का उदाहरण लीजिए। अज्ञान में रज्जु, सर्प दीखता है। ज्ञान में सर्प उड जाता है, केवल रज्जु ही दीखती है। स्वर्ण-कंकण विज्ञान की भूमिका है। यहां साक्षात्कार है।

★

– विज्ञान समाज-भावना ला रहा है
– विज्ञान + हिंसा = सर्वनाश
– विज्ञान + आत्मज्ञान = सर्वोदय
– दिशा अध्यात्म, गति विज्ञान
– नये चित्त का निर्माण
– विराट् के सामने हमारी हस्ती
– वैज्ञानिक बुद्धि
– एक या समान चित्त नहीं, सहृचित्त
– उधर अणुविस्फोट, इधर चित्तस्फोट
– अहिंसा-निष्ठा दृढ हो
– विश्ववृत्ति पनपानी होगी
– जय-जगत – जय-ग्रामदान

सृष्टि की हर चीज में और हरएक व्यक्ति में दो तरह के मसाले हैं; एक को 'देह' कहते हैं, दूसरे को 'आत्मा'। देह और आत्मा, दोनों का दृढ संवंध है। दोनों का पोषण किये विना मनुष्य को पूरा समाधान नहीं होता है। जो शरीर की तरफ ज्यादा झुकता है, वह सुखार्थी और आत्मा की तरफ ज्यादा झुकता है वह 'श्रेयार्थी' कहलाता है। शरीर के सुख के लिए 'विज्ञान' की और आत्मकल्याण के लिए 'आत्मज्ञान' की मदद मिलती है। प्राचीन काल से आज तक इन दोनों विद्याओं का विकास होता आया है। मानवजीवन में सुख-उपभोग के अनेक साधन वढे हैं। आज यहां बैठ कर दुनिया के किसी भी कोने से वातचीत हो सकती है। दूसरे ग्रहों में, अवकाश में मनुष्य को प्रवेश मिला है। दूसरी तरफ, सत्यनिष्ठा, समत्व-वुद्धि, न्याय-वृत्ति, दया, प्रेम, वात्सल्य आदि गुणों का कुछ भान हुआ और प्रेम के विकास के लिए कुटुंव वने, समाज वना, राज्य वना, तरह-तरह की मर्यादाएं और नियमन वनाये गये। पूरा विकास नहीं हुआ है। यात्रा अभी जारी है।

इस प्रकार मनुष्यरूपी पंछी के दो पंख हैं – (1) आत्मज्ञान और (2) विज्ञान ! इन दो पंखों पर पक्षी विहार करता है। उनमें से एक भी पंख टूट जाये, तो उसकी उडान खतम हो जायेगी। इसलिए दोनों के विकास से ही जीवन में संतुलन आयेगा। समाज की दृष्टि से देखा जाये तो दोनों हिस्सों का संतुलन करने से ही समाज में समाधान स्थापित हो सकता है। प्राचीन काल में भारत में यद्यपि विज्ञान था, पर आध्यात्मिक तृष्णा अधिक थी। पश्चिम के देशों में पिछले तीन-सौ सालों में विज्ञान का विकास अधिक हुआ। विज्ञान ने आज सुख-विस्तार किया है, परंतु ऐसा नहीं कह

सकते कि उसके साथ शांति-समाधान भी बढा है। विज्ञान के नाम से आज मनुष्य हिंसा के जगत में बहुत आगे बढ चुका है।

आखिर विज्ञान एक ऐसी शक्ति है, जिसका सदुपयोग-दुरुपयोग, दोनों हो सकते हैं, जबकि अध्यात्म का कभी दुरुपयोग नहीं हो सकता। आज विज्ञान के नाम से एक समूचा देश दूसरे समूचे देश के खिलाफ लडाई में खडा हो जाता है। तब यह नहीं सोचा जाता कि दूसरे देश में भी अच्छे लोग हैं, वहां भी स्त्रियां और बच्चे हैं, पेड हैं. प्राणी हैं, जिन्होंने हमें सताया नहीं हैं, और ऊपर से ऐसे बम बरसाये जाते हैं, जिससे सब खतम हो जाता है। आज सुख के साधन तो बढ गये, पर उसका नियंत्रण करने की अक्ल नहीं है। वह तो आत्मा के गुणों में रहती है, उनका विकास नहीं होगा तो मनुष्य दु:खी होगा। जीवन में भोग का स्थान है, परंतु एक मर्यादा में। हमने सूत्र बनाया है 'त²भ' – जीवन में दो मात्रा त्याग की रहे, एक मात्रा भोग की रहे। विज्ञान अग्नि की खोज करता है। परंतु विज्ञान यह नहीं कहता कि अग्नि का उपयोग कैसे करना। वह आत्मज्ञान बताता है। आत्मज्ञान तय करता है कि अग्नि से रोटी पकानी है, मकान नहीं जलाना है। विज्ञान पर आत्मज्ञान का अंकुश चाहिए।

आज का युग विज्ञान-युग माना जाता है। विज्ञान-युग यानी पिछले दो-सवा दो-सौ वर्षों का युग। उसमें भी आखिरी पचास-साठ वर्षों में विज्ञान की जो प्रगति हुई, वह उसके पहले के 200 वर्षों में भी नहीं हुई थी। मनुष्य अब केवल पृथ्वी पर रहना नहीं चाहता, वह अब दूसरे ग्रहों में जाने लगा है। इसलिए कहना तो यह चाहिए कि अब 'अभिनव विज्ञान-युग' शुरू हुआ है।

विज्ञान समाजभावना ला रहा है।

यह विज्ञान-युग क्या-क्या ले कर आता है, यह समझ लेने की जरूरत है। विज्ञान एक शक्ति है। शक्ति का सदुपयोग हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। इसलिए विज्ञान-युग में विवेक अनिवार्य है। आज विज्ञान इतना व्यापक हो गया है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व भी टिकने नहीं देगा। इस जमाने में वही समाज टिक सकेगा, जो अपने को समष्टि का अंश समझेगा। विज्ञान-युग में छोटे-छोटे सवाल भी एकदम आंतर्राष्ट्रीय हो जाते हैं, और किसी भी देश का छोटा-सा सवाल समूची दुनिया को स्पर्श करता है, उस पर असर करता है। इस तरह आज विज्ञान मनुष्य को 'मैं' और 'मेरा' की वृत्ति छोडने को कह रहा है; यह युग अहंता और ममता का छेदन करने खडा है। आज तक आत्मज्ञान तो इस पर प्रहार कर ही रहा था, अव विज्ञान भी मनुष्य की संकुचित वृत्ति पर प्रहार कर रहा है। आत्मज्ञान का सिर पर प्रहार और विज्ञान का पांव पर। विज्ञान-युग में संकुचित भावना टिक नहीं सकती।

विज्ञान + हिंसा = सर्वनाश

विज्ञान ने आज ऐसे शस्त्रास्त्र ढूंढे हैं, जिनके उपयोग से पृथ्वी स्मशान वन सकती है। विज्ञान आज हिंसा के साथ नहीं, अतिहिंसा के साथ जुड रहा है। इस दिशा में विज्ञान आगे वढता रहेगा तो सर्वनाश अटल है। परंतु मनुष्य के चित्त में अभी रक्षण के लिए

शक्तिदेवी की उपासना ही चलती है। लोग शांति की उपासना करते हैं आत्म-समाधान के लिए, सामाजिक समता के लिए, मानसिक शांति के लिए। परंतु रक्षण के लिए अंतिम 'सैंक्शन' (आश्रय) हिंसा ही मानी है। देश का रचनात्मक काम करना है तो सत्त्वगुण का उपयोग है; परंतु अभी तक यह मान्य नहीं हुआ है कि रक्षण के लिए भी सत्त्वगुण समर्थ है। दुनिया में आज कशमकश चल रही है; जबान पर तो 'ॐ शांतिः शांतिः शांतिः' है परतु तैयारियां विश्वयुद्ध की हो रही हैं। चाह है शांति की, परंतु राह ली है अशांति की।

इसलिए रक्षण के लिए हिंसाशक्ति अब अपना तीव्र रूप धारण कर रही है। लेकिन यह शक्ति तो मूढ देवी है। जो देवी मूढ है, उसको देवी मानना ही गलत है – उस पर विश्वास रखना ही गलत है, तो फिर अंतिम विश्वास रखना तो और भी गलत है। इन दिनों, भयानक शस्त्रास्त्र निकलने के कारण राष्ट्रों में 'बैलन्स ऑफ पावर' – शक्ति के संतुलन की होड चली है। और वह होते-होते दोनों पलडों में इतना वजन बढ रहा है कि तराजू टूटने की नौबत आ गयी है।

विज्ञान + आत्मज्ञान = सर्वोदय

ऐसी परिस्थिति में विज्ञान की मदद में आत्मज्ञान को जोडना होगा। आज विज्ञान की युति हिंसा के साथ होने जा रही है। उसको रोक कर उसकी युति अहिंसा से करनी होगी। यह तब होगा जब अहिंसा पर निष्ठा बढेगी। हमारा विश्वास हिंसा या

दंडशक्ति पर नहीं; अहिंसा की, करुणा की शक्ति पर, समझाने की विचारशक्ति पर होना चाहिए। हमारे रोजमर्रा के जीवन में जो छोटी-छोटी हिंसाएं व्याप्त हैं, वे जब तक नहीं मिटेंगी, तब तक यह बडी हिंसा मिटनेवाली नहीं है। मुझे तो इन छोटी-छोटी हिंसाओं का जितना डर है उतना इस बडी हिंसा का नहीं है। क्योंकि वह हिंसा नहीं, संहार है; और विश्वसंहार तभी होगा जब विश्वनियंता की इच्छा होगी। लेकिन छोटी-छोटी हिंसाओं को मिटाना ही होगा इसलिए समाज में क्षोभ पैदा न करनेवाली समस्या-मोचिनी क्षोभरहित शक्ति की खोज हमें करनी होगी। हमारी अंतिम श्रद्धा अहिंसा पर दृढ करनी होगी।

जैसे आज विज्ञान के साथ हिंसा जुड रही है, वैसे ही वर्तमान संकीर्ण राजनीति भी जुड रही है। वर्तमान राजनीति तोडने की राजनीति है। कोई भी मसला राजनीति से सुलझनेवाला नहीं है। ऐसी परिस्थिति में विज्ञान का राजनीति से नाता तोडना होगा। हमने आज की परिस्थिति का एक सूचक-सूत्र बनाया है। वह इस प्रकार है –

विज्ञान + सियासत (राजनीति) = सर्वनाश
विज्ञान + रूहानियत (आत्मज्ञान) = सर्वोदय

मतलब, विज्ञान के साथ रूहानियत को जोडना होगा। और, तोडनेवाली नहीं, बल्कि सबको परस्पर जोडनेवाली प्रक्रिया ढूंढनी होगी। आत्मज्ञान अगर विज्ञान के साथ जुड जायेगा तो पृथ्वी पर स्वर्ग उतरेगा, अन्यथा सर्वनाश निश्चित है।

जब तक विज्ञान राजनीति का गुलाम रहेगा, तब तक दुनिया का नाश करनेवाली खोजें करता रहेगा। आइन्स्टाईन ने भी कहा

था कि हमको ऐसे काम नहीं करने चाहिए, जिससे दुनिया का संहार हो सकता हो। संहारक शस्त्र खोजते-खोजते हम 'बैलेस्टिक वेपन्स' – प्रक्षेपणास्त्र तक पहुंच गये। आज दुनिया को सबसे बड़ा खतरा परमाणु-शस्त्र का है। यह सब विज्ञान की राजनीति की गुलामी है। इस गुलामी को काफी सहन कर लिया, अब हमें अपने को राजनीति से बिलकुल अलग कर देना चाहिए और साफ कह देना चाहिए कि इससे आगे विज्ञान राजनीति के मार्गदर्शन में नहीं, अध्यात्म के मार्गदर्शन में चलेगा।

मानव को विज्ञान में ऐसी खोजें करनी चाहिए, जिनसे मानव का विकास हो। जैसे खेती है। विज्ञान का उपयोग खेत में उत्पादन वढाने में हो, यह ठीक ही है, लेकिन उससे जमीन की ताकत ही कम हो, यह कुशलता नहीं मानी जायेगी। अब तो ऐसी औषधियां खोजी गयी हैं, जिनके कारण वातावरण दूषित होता है। उससे मनुष्य-जीवन में अनेक प्रकार की बीमारियां फैलती हैं। समुद्र में भी प्रदूषण फैला है, परिणामस्वरूप समुद्र में कई मीलों तक मछलियां मर रही हैं। विज्ञान के गलत उपयोग के कारण प्रदूषण जैसी अनेक समस्याएं पैदा हुई हैं। इसलिए मनुष्य-जीवन के लिए जो लाभदायी हैं ऐसी चीजों के लिए विज्ञान का उपयोग होना चाहिए। विज्ञान चंद लोगों के हाथों में नहीं रहना चाहिए। विज्ञान का विस्तार पूंजीपति और राजनीतिवाले करेंगे तो समाज में झगडे वढेंगे। विज्ञान लोकजीवन के लिए चाहिए। जैसे, छोटे-छोटे औजार ढूंढने में, रोग-बीमारियों को खतम करने में विज्ञान का उपयोग हो। इस प्रकार विज्ञान लोक-समस्या के साथ जुड जाये। सर्वोदय विज्ञान के लिए प्राणवायु है।

दिशा अध्यात्म, गति विज्ञान

जैसे मोटरकार में दिशासूचक और गतिवर्धक, दो प्रकार के यंत्र होते हैं, वैसे ही हमारे जीवन के लिए विज्ञान गतिवर्धक यंत्र होगा और आत्मज्ञान दिशासूचक यंत्र, जो विज्ञान को नियंत्रित करेगा। स्वयं विज्ञान में यह शक्ति नहीं कि वह अपना सदुपयोग ही होने दे। इसलिए, उसका विवेकपूर्वक उपयोग करने के लिए विज्ञान के साथ दिशासूचक यंत्र – आत्मज्ञान को जोड देना होगा।

विज्ञान-शक्ति 'सत्' के साथ जुडी हुई है। सत् तत्त्व की छानबीन कर के उसकी गहराई प्राप्त करने का विज्ञान का प्रयत्न रहेगा ही। इसमें वह कभी संहारक शक्ति भी प्राप्त कर लेगा, यद्यपि उसका इरादा तो पृथक्करण का, सत्-प्राप्ति का ही होगा, संहार का नहीं। इसलिए मार्गदर्शक तत्त्व की बहुत जरूरत रहेगी। उसकी मदद में आत्मज्ञान जुड जायेगा, तो पृथ्वी पर नंदनवन स्थापित होगा।

जैसे वर्तुल के दो सिरे अंत में मिल जाते हैं, वैसे हिंसा बढते-बढते अतिहिंसा हो कर 'अहिंसा' के नजदीक आ रही है। इसलिए अब आत्मज्ञान को जोर करना होगा। और हमें अपने चित्त को मन से ऊपर उठाना होगा। विज्ञान-युग में मनुष्य को मन से ऊपर उठना होगा। उपनिषदों ने समझाया है कि मनोमय कोष से ऊपर विज्ञानमय कोष है। अब विज्ञानमय कोष को जागृत करने का समय आ चुका है। हमारा चिंतन अक्षुब्ध हो, यह आज नितांत आवश्यक हो गया है।

हमारा देश विविधता से भरा है। उसमें अनेक भेद हैं। इसवास्ते हमारे देश में सबसे महत्त्व की कोई बात हो तो वह **अनुराग और स्नेह** की है। मैं तो सभी विचारधाराओं को गौण और स्नेहभाव को मुख्य मानता हूं। जैसे-जैसे विज्ञान बढता जायेगा, वैसे-वैसे लोग विचार को समझते जायेंगे। विज्ञान के साधनों का लाभ उठाना हो तो मतभेदों के कारण कभी भी कटुता पैदा नहीं होने देनी चाहिए। अक्सर न्यायप्रियता और मतभेदों के कारण कटुता, परस्पर वैमनस्य अथवा दुर्भावना पैदा होती है। फिर ऐसी परिस्थिति में विज्ञान के अद्यतन साधनों के अत्यंत खराब परिणाम आते हैं। इसलिए इस जमाने में मानसिक क्षोभ को स्थान देंगे तो विज्ञान से जो लाभ लेना था, वह तो नहीं ही ले सकेंगे, बल्कि विज्ञान से होनेवाली हानि का ही पूरा फल भुगतेंगे। गांधीजी ने साधनशुद्धि की बात कही थी, उसका एक नया अर्थ मैं यहां खोल रहा हूं। साधनशुद्धि अर्थात् ऐसे साधनों का उपयोग, जिनसे हमारे मन में क्षोभ पैदा न हो। चित्त का या समाज का या जिसका भी परिवर्तन करना हो, परिवर्तन विना क्षोभ का, अक्षुब्ध ही हो। केवल विचारविमर्श से हो। अक्षुब्ध चिंतन आज के विज्ञानयुग का तकाजा है।

फिर सवाल उठता है कि क्षोभ पैदा ही न हो तो समाज आंदोलित कैसे होगा? आंदोलन के लिए तो मन का क्षोभ जरूरी है; आंदोलन का अर्थ ही है – मन का क्षोभ! परंतु यह पुराने चित्त की वात है। समाज को आंदोलित करना है विचार से। शंकराचार्य ने यही किया। विचार-भेदों का निरसन बुद्धि के क्षेत्र में होना

चाहिए, मन के क्षेत्र में नहीं। मानसिक क्षोभ पैदा करने से शायद प्रश्न जल्दी हल हो जाये, परंतु वह हमारे काम का नहीं है। विज्ञानयुग में चित्त अक्षुब्ध होगा तभी हम टिक पायेंगे।

नये चित्त का निर्माण

साम्ययोग के आधार पर हमें नया समाज बनाना है। वास्तव में समाज नया तब बनता है, जब नये मनुष्य का निर्माण होता है, नये चित्त का निर्माण होता है। कुदरत, मकानात, पोशाक, रहन-सहन के ढंग आदि सब बदल जायें, लेकिन दिल और दिमाग न बदले तो समाज नहीं बदलता। हम मानवचित्त को नया परिवेश देना चाहते हैं। नया चित्त-निर्माण करना चाहते हैं। आज का युग विज्ञान-युग है, इसमें पुराना चित्त नहीं चलेगा।

एकबार पवनार में आजाद हिंद सेना के कुछ भाई हमसे मिलने आये थे। आते ही उन्होंने 'जय हिंद' कहा। हमने उत्तर दिया, 'जय हिंद, जय दुनिया, जय हरि'। हम सुझाना चाहते थे कि 'जय हिंद' में भी खतरा हो सकता है, वह छोटा नारा हो सकता है, ऐसा जमाना आ गया है। और 'जय हिंद' तभी सही है जबकि उसके साथ 'जय दुनिया' भी जुडा हो। अपने देश की जय में दूसरे देश की पराजय न हो। फिर सारी दुनिया इतनी पागल हो सकती है कि परमेश्वर को भी भूल जाये। इसलिए उसके साथ 'जय हरि' भी जोड दिया। 'जय हरि' गहराई है, 'जय दुनिया' व्यापकता है। हम सर्वप्रथम मानव हैं, उसके बाद भारतीय हैं। जगत के निवासी

हैं, विश्वनागरिक हैं। हम विश्वमानव हैं। इस युग में अब हम इससे छोटे नहीं रह सकते।

यह विश्वमानववृत्ति पनपाने के लिए दिल को बडा बनाना होगा। आज विज्ञान के कारण दिमाग बडा बन गया है। आज छोटा बच्चा भी दुनिया का भूगोल जानता है और मनुष्य अब अवकाश में घूमने लगा है। इतने विशाल और व्यापक ज्ञान के साथ-साथ अगर चित्त में छोटे-छोटे राग-द्वेष रहेंगे तो हम टुकडे-टुकडे हो जायेंगे। ज्ञान की विशालता के अनुकूल हृदय भी विशाल होना चाहिए।

विराट् के सामने हमारी हस्ती

दिल व्यापक करने के लिए अपनी हस्ती का भान होना आवश्यक है। क्या है हमारी हस्ती? यह विश्व कितना लंबा-चौडा है? करोडों गोलकों के बीच एक सूर्य है। इतने बडे गोलकों के सामने सूर्य की हस्ती तिनके के समान भी नहीं। उस सूर्य के इर्दगिर्द हमारी पृथ्वी घूमती है। उस पृथ्वी पर असंख्य प्राणी हैं। वैज्ञानिक मानते हैं कि पृथ्वी पर 20/25 लाख प्रकार के प्राणी हैं। पुराणों में 84 लाख योनियां बतायी हैं। जो भी हो, करोडों–लाखों की बात है, हजारों की नहीं। उनमें मानव एक छोटी-सी योनि। उस मानवसमाज में भारत जैसा एक देश। उस देश में महाराष्ट्र प्रदेश का वर्धा नाम का छोटा-सा जिला। उसमें पवनार

नाम का एक गांव । उस गांव में एक आश्रम, उसमें हम हैं । यानी हमारी कोई हस्ती ही नहीं । इतने विशाल ब्रह्मांड की कल्पना मनुष्य के सामने आती है और उसके सामने हम कितने छोटे हैं, इसका भान होता है, तो अहंकार मिटता है । फिर पाप की प्रेरणा ही नहीं होती ।

विज्ञान को, खास कर खगोलशास्त्र – 'रेडियो अॅस्ट्रानामी' को मैं वहुत पसंद करता हूं । पहले हम जानते थे कि आकाश में यह जो 'मिल्की वे' – आकाशगंगा है, उसमें करोडों तारिकाएं हैं । परंतु अव पता चला है कि आकाशगंगा का एक छोटा-सा हिस्सा ही हमें दिखायी देता है । ऐसी अनेक आकाशगंगाएं होंगी । यह पढ कर हमें हमारी मां की एक बात याद आयी । हमारी मां रोज अपनी पूजा पूरी कर के अपने कान पकड कर भगवान से कहती, 'हे अनंतकोटि ब्रह्मांडनायक ! मेरे अपराधों को क्षमा कर ।' अनंतकोटि ही कह दिया फिर वचा क्या ! इस तरह अनंतकोटि ब्रह्मांड हैं ।

'रेडियो अॅस्ट्रानामी' ने अभी यह भी जाहिर किया है कि प्लॅनेट – ग्रह ग्यारह नहीं, लगभग पचास लाख हैं । मालूम नहीं उन ग्रहों पर क्या-क्या होगा ! भगवान की सृष्टि में चारों ओर अनंतता है । तब पांच इंद्रियोंवाले प्राणी में ही समाप्ति हो जायेगी, यह संभव नहीं लगता । संभव है कि कहीं, किसी ग्रह पर आठ, नौ, दस इंद्रियोंवाले प्राणी भी हों । उनका संदेश समझने की शक्ति हममें नहीं है, इसलिए वे होंगे तो भी हमें मालूम नहीं होता । भगवान की बनायी सृष्टि वडी व्यापक है और हम अत्यंत छोटे हैं,

नगण्य हैं। हमें नम्रतापूर्वक विश्व की सेवा करनी है। अब विश्व से कम चीज नहीं चलेगी। कुल विश्व और विश्व जिसके पेट में है वह विश्वेश्वर!

वैज्ञानिक बुद्धि

विज्ञान वढेगा तो जिंदगी जटिल नहीं बनेगी, बल्कि सरल बनेगी। हमने हमारे अंग्रेज मित्र डोनाल्ड से पूछा था कि आपके यहां लंदन में भी यहां के जैसे हर दूकान में रेडियो चिल्लाता है? तब उन्होंने बताया कि वहां उसकी मनाही है। वहां विज्ञान काफी आगे वढा है, और हमारे यहां अभी आया है, इसलिए यह फरक है। विज्ञान के जमाने में आज के ढंग नहीं टिकेंगे। बुद्धि वैज्ञानिक होगी। हमारा हृदय प्राचीन संस्कृति का बना रहेगा और बुद्धि आधुनिक विज्ञान से भरी रहेगी।

उस युग में नंबर एक की अहमियत इसको मिलेगी कि हर आदमी को खाने के लिए पूरा आसमान मिले। नंबर दो में हवा, तीन में सूरज की रोशनी, चार में पानी, पांच में अनाज, छः में काम करने के लिए औजार, कपडा, आवास और सात में मनोरंजन की चीजें आदि।

रवींद्रनाथ ठाकुर सारी दुनिया को एक माननेवाले व्यक्ति थे। संकुचित वृत्ति के व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने हिंदुस्तान और योरप के मजदूरों की तुलना करते हुए कहा है कि दिन भर की थकान मिटाने के लिए योरप का मजदूर रात को शराब पीता है और

भारत का मजदूर थकान मिटाने के लिए रात को भजन करता है। मैं अध्यात्म के ख्याल से नहीं, विज्ञान की दृष्टि से पूछता हूं कि रात को परमात्मा के सुंदर भजन गा कर सोना ज्यादा वैज्ञानिक है या शराब पी कर सोना ? मेरी विज्ञान पर इतनी श्रद्धा है कि वह जो भी जवाब देगा वह मुझे मंजूर होगा। रात की नींद यानी इनसान की उस दिन की मौत है। मौत के वक्त जो विचार बलवान होंगे, उसके मुताबिक आगे गति मिलेगी, ऐसा शास्त्र भी कहता है। तो रात को क्या करना ज्यादा वैज्ञानिक है ?

दुनिया में आज सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में वर्तमान समाजरचना कायम रख कर कुछ हलचलें चल रही हैं। लेकिन विज्ञान-युग में वे निकम्मी साबित होंगी। हम समाजरचना की बुनियाद ही बदलना चाहते हैं, जैसे कि 'मैं' की जगह 'हम' की स्थापना करनी होगी, विश्व को ही परिवार मानना होगा। इसकी बुनियाद है नया मन, परिवर्तित मन। पुराना मन राग-द्वेष, मान-अपमान, ऊंच-नीच-भाव, अहंकार, वासना आदि कायम रख कर सोचता है। चित्त की यह आदत छोडनी होगी। चित्त को एक नया परिवेश प्राप्त हो। वह विकारों में न फंस कर निर्विकार भूमिका में रहे और आत्मा में स्थित शक्ति-स्रोत का उसे स्पर्श हो। विज्ञान-युग में ऐसे मुक्त चित्तवाले लोग होंगे तभी ठीक समय पर उचित निर्णय हो सकेगा।

विज्ञान-युग में ऐसे व्यापक और जटिल सवाल आयेंगे जिनका निर्णय शीघ्रता से करना होगा। पुराने जमाने में ऋषि समाधि लगा कर व्युत्थान के बाद सवालों का जवाब देते थे। लेकिन इन दिनों इतनी देरी के लिए अवकाश नहीं है। इसलिए आज अचूक

उत्तर देनेवाले स्थितप्रज्ञों की जितनी जरूरत है, उतनी पहले कभी नहीं थी। मेरा मानना है कि विज्ञान-युग का स्थितप्रज्ञ नैतिक और भौतिक योग्यता में पहले के स्थितप्रज्ञों की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंचा माना जायेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि पहले की अपेक्षा आज स्थितप्रज्ञता प्राप्त करना कठिन है, क्योंकि चित्त की चंचलता के लिए अनेकविध कारण उपस्थित हैं। परंतु स्थितप्रज्ञता इस युग की अनिवार्य आवश्यकता है, यह भी निर्विवाद सत्य है।

एक या समान चित्त नहीं, सहचित्त

ऋग्वेद के अंत में एक शब्द आता है – **सहचित्तमेषाम्। समानं मनः समितिः समानी** – हम सबका मन, हम सबकी बैठक समान हो। सबका 'सहचित्त' हो।

सहचित्त कहा, एकचित्त नहीं कहा। एकचित्त बनेगा तो विविधता का लाभ नहीं होगा। एकतानता आ जायेगी। विचार में वृद्धि नहीं होगी, संशोधन नहीं होगा। चित्तलय होगा और चित्त लीन होने पर दुनिया का लोप होगा। वैसे ही, समान चित्त भी नहीं कहा। समान चित्त समान कार्यक्रम बनाने में मददगार हो सकता है। यानी यह बात भी नहीं कही कि सर्वसाधारण, सर्वसामान्य अंश सबको मान्य हो, 'मिनिमम ॲग्रीमेंट' हो। एक-चित्त और समान चित्त से भिन्न यह जो सहचित्त शब्द है, वह बहुत जानदार और अच्छा शब्द है। उसमें समान चित्त का विरोध

नहीं। लेकिन सहचित्त वह शब्द है, जिसमें एक-दूसरे के सामने एक-दूसरे के दिल खुल जाते हैं। सहचित्त की आज अत्यंत आवश्यकता है।

सहचिंतन की प्रक्रिया चलनी चाहिए। सलाह-मशविरा हो, अन्योन्य प्रबोधन हो और अन्योन्य विश्वास हो। आज दुनिया में अन्योन्य विश्वास की बहुत कमी है। गहराई में पैठ कर एक-दूसरे को समझने की कोशिश नहीं की जाती। अक्सर होता यह है कि हम कुछ अंश जानते हैं, कुछ नहीं जानते इसलिए अंदाज लगाते हैं, फलतः कुछ गलत समझ लेते हैं और एक-दूसरे पर गलत हेतु का आरोप करते हैं। विश्वास खो बैठते हैं। विश्वास विश्व की एक महान शक्ति है। मनुष्य जीवन में जो स्थान श्वास का है, वह स्थान सामाजिक जीवन में विश्वास का है। (श्वास और विश्वास दोनों शब्द 'श्वस्' धातु से बने हैं) विज्ञान-युग में सहचित्त की आवश्यकता है और उसके लिए परस्पर विश्वास अत्यंत जरूरी है। एक-दूसरे का मन एक-दूसरे के सामने बिलकुल खुला रहेगा तभी सहचित्त होगा। समान चित्त से सर्वसामान्य कार्यक्रम बन सकता है, लेकिन सहचित्त न हो तो काम में जोश नहीं आयेगा। सामाजिक काम के लिए सहचित्त की आवश्यकता है। आज मानव के सामने असली समस्या चित्त-निर्माण की है। विज्ञान-युग के लायक नया चित्त अत्यंत आवश्यक है।

यह परमाणु-युग है। इसमें समाजरचना बदलनी पडेगी। अब छोटे परिवार नहीं चलेंगे। परमाणु-युग में एक ओर ग्रामपरिवार और दूसरी ओर विश्वपरिवार, दो ही रहेंगे। तभी विश्वशांति

के वश है, परंतु संहार तो ईश्वर चाहता है तभी होता है। इन प्रयोगों में से अगर शस्त्रों को ही खतम करने की बुद्धि आयेगी तो हिंसा का स्थान अहिंसा को मिलेगा और मानवजाति वापस हिंसा पर नहीं आयेगी। हिंसा के परिपूर्ण प्रयोग के बाद ही हिंसा छूटेगी। हिंसा-शक्ति के उत्कर्ष से जब मानव के दिल को हिंसा का वैफल्य जंच जायेगा, तब बच्चा-बच्चा निर्भय बनेगा। हम मनुष्य के चित्त में हिंसा की जगह अहिंसा की शक्ति को दृढ करना चाहते हैं। हमारा कार्य मामूली सेवाकार्य नहीं है, जो समाज को जैसा का तैसा रख कर मलमपट्टी का कार्य करता रहे। समाज के ढांचे को बदलना है, नये मूल्य प्रस्थापित करने हैं। हमारी भूदान यात्रा **साम्ययोगी समाज** की स्थापना का ही एक प्रयास है।

मेरा पक्का मानना है कि विज्ञान के बिना मानव की समृद्धि अशक्य है। इसलिए मैं हमेशा कहता हूं कि मुझे आध्यात्मिक कारणों से अहिंसा की उतनी परवाह नहीं है। मुझे तो मुख्यतः विज्ञान के विकास की तडपन है, इसलिए मैं अहिंसा के पीछे पडा हूं। अहिंसा के लिए मेरी विज्ञान-प्रेरित प्रीति है। इस तरह विज्ञान, आत्मज्ञान और विश्वास, आज के युग की मांग है। जिस तरह से न्यूटन की शोध थी, वैसी समाजशास्त्र में यह एक शोध है।

जिस तरह किसी चीज के अंदर के सारे स्तरों को पार कर के अति अंदर का ज्ञान आत्मज्ञान की शक्ति से प्राप्त किया जाता है, वैसे बाहर के आवरणों को दूर कर के, बाह्य स्तरों का भेदन कर के अतिदूर का दर्शन विज्ञान की शक्ति से होता है। विज्ञान के युग में बहुत सारी चीजें पुरानी पडती जायेंगी। समाज-स्वास्थ्य के

दो ही आधारस्तंभ रहेंगे – एक तरफ से आध्यात्मिक आधार, दूसरी तरफ विज्ञान का आधार। इन दोनों को जो एकत्र कर पायेगा, वही टिकेगा।

विश्ववृत्ति पनपानी होगी

नया युग बडी तेजी से आ रहा है। इस युग में हमारी केंद्रीय व्यवस्था अब न चलेगी। समाज को विकेंद्रित करना होगा और छोटी-छोटी इकाइयों को समर्थ बनाना होगा। विज्ञान-युग में अक्षमों का सहकार नहीं, सक्षमों का परस्पर सहयोग होगा। तभी दुनिया बचेगी।

एक बात समझ लेनी चाहिए कि विज्ञान के जमाने में स्वातंत्र्य का स्वतंत्र मूल्य नहीं है। यह स्वयंसिद्ध बात है कि विज्ञ... जमाने में दुनिया नजदीक आ रही है। इसमें यदि छोटे-छोट... स्वतंत्र होने की बात करते हैं तो दूसरी बहुत-सी बातों का स... करना होगा। स्वातंत्र्य के मूल्य की कसौटी यही है कि... विकास होता रहे। इस तरह यद्यपि स्वातंत्र्य का मूल्य... यह नहीं भूलना चाहिए कि वह साधारण तौर पर... जमाने में ही मान्य है, विशेष तौर पर विशेष जमा... हमारे साहित्य में 'स्वदेशो भुवन-त्रयम्' कहा है। विज्ञ... इससे संकुचित शब्द निकलेगा तो वह स्वतंत्रता...

जय जगत – जय ग्रामदान

एक ओर चिंतन करने के लिए जय जगत-वृत्ति चाहिए, दूसरी ओर विचार के मुताबिक आचरण करने के लिए छोटा-सा गांव भी चाहिए। चिंतन हमारा विश्वव्यापक हो, परंतु कृति हमारी स्थानीय होगी, सामाजिक परिस्थिति के संदर्भ में हम कदम उठायेंगे। एक तरफ हमारी आचारभूमि – छोटा-सा गांव और दूसरी तरफ सारा विश्व, इनके बीच किसी भी तरह का परदा, मर्यादा, या भूमिका नहीं होनी चाहिए। गांव और विश्व के बीच जिला अध्यक्ष, मंत्री, राज्यपाल, राष्ट्रपति नहीं रहेगा – यह मेरा अपना चित्र है। जैसे भक्तिमार्ग में मेरे और परमेश्वर के बीच – मध्य में कोई तीसरा न हो – ग्रंथ, गुरु, मंत्र, तंत्र, पंथ कोई नहीं, किसी की 'मार्फत बाजी' नहीं चलेगी, वैसे ही गांव और विश्व के बीच किसी भी प्रकार का परदा नहीं रहना चाहिए। जाहिर है कि जब गांव स्वयंपूर्ण होगा, तभी सारे विश्व के साथ उसका सीधा अनुसंधान रहेगा। उसमें दो ही पंचायतें रहेंगी – विश्वपंचायत और ग्राम-पंचायत। दोनों को जोडने के लिए बीच में राष्ट्रपंचायत रहेगी, परंतु प्रांतपंचायत, जिलापंचायत आदि नहीं रहेंगी। एक ओर ग्राम-स्वराज्य की योजना, दूसरी ओर विश्व-स्वराज्य की योजना चलेगी। एक ओर ग्राम-मंदिर होगा, तो दूसरी ओर विश्व-मंदिर। और दोनों को जोडनेवाली कडी के तौर पर होगा राष्ट्र-मंदिर। जैसे-जैसे ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होगा वैसे-वसे व्यापक स्वतंत्रता की प्रेरणा होगी। फिर 'वह' और 'मैं' ही रहेंगे, बीच के सारे परदे हट जायेंगे। इसलिए मैं विचार से 'जय जगत' और आचार से 'जय ग्रामदान' कहा करता हूं।

क्रांति का क्रांतदर्शन

हमारी यह पृथ्वी परमेश्वर का आसन है। मानवता को इस पृथ्वी के सिवा और कोई आधार नहीं है। पृथ्वी ही एकमात्र आधार है। इस पृथ्वी के हम जितने टुकड़े करते जायेंगे, उतने अपने हृदय के ही टुकड़े करेंगे। इसलिए हमारी वृत्ति बिलकुल वैश्वानर-वृत्ति होनी चाहिए। दस हजार साल पहले ऋग्वेद के ऋषि ने जिस शब्द का उपयोग किया था, 'विश्वमानुषः', उस शब्द के लायक हमें बनना है। इस विज्ञानयुग का यह आवाहन है और आत्मज्ञान का यह आश्वासन है। विज्ञान और आत्मज्ञान, संकुचितता पर दोनों ओर से प्रहार कर रहे हैं। इस बात को हम पहचान लें और उस विशाल दृष्टि को कायम रखते हुए चाहें तो हम अपने घर का काम करें, अपनी गली की सफाई करें या कोई राज्य चलायें, उसमें भी कोई हरज नहीं है। लेकिन वह जो विश्वमानव की विशाल भूमिका है, उसकी बुनियाद कायम रखें, तभी हम टिकेंगे। अन्यथा हम हार खायेंगे और मार भी खायेंगे।

*

वर्तमान समाज को हम बदलना चाहते हैं। आज के समाज के
अनेक स्थापित मूल्य हमें मान्य नहीं हैं। हमें सार्वभौम क्रांति की
जरूरत है। हम जीवन के समस्त क्षेत्रों में क्रांति करना चाहते हैं।
ऐसी सार्वभौम और समस्त जीवनव्यापी क्रांति केवल घोषणा से
नहीं होती। इसके लिए तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आमूल
परिवर्तन करना होगा। यह कोई सेवा या राहत का कार्य नहीं है।
साम्ययोग लाने का कार्य आमूल और समग्र, सर्वांगीण क्रांति का
कार्य है।

क्रांति सब देशों में एक ही प्रकार से नहीं होती। क्रांति देश,
काल और परिस्थिति पर आधार रखती है। हिंदुस्तान की क्रांति
करने की अपनी एक विशिष्ट पद्धति है, उसका अपना एक उद्देश्य
है, एक विशिष्ट धर्म है। भारत में प्राचीन काल से आत्मज्ञान
चला आया है, इसलिए यहां वेदांत के आधार के विना किसी भी
प्रकार की क्रांति नहीं होगी। वर्ग-विभाजन कर के समाज के
टुकडे कर के जहर फैला कर तो भारत में क्रांति की कल्पना ही
नहीं की जा सकती। यहां तो समाजरचना में ऐसी क्रांति होगी,
जिसके आधार में आत्मज्ञान होगा।

क्रांति के लिए क्रांत-दर्शन की जरूरत होती है। अपने आसपास
की परिस्थिति चीर कर उस पार छिपी हुई चीज को स्पष्ट दे
सकने की और जो चीज दीखेगी उसे कार्यान्वित करने की हिम्म
को क्रांत-दर्शन कहते हैं। क्रांत-दर्शन के मानी है, परिस्थिति
गर्भ में छिपी खूबियों का दर्शन! ऐसा क्रांत-दर्शन होगा, त
क्रांति हो सकेगी।

विचार-शासन ही क्रांति

क्रांति में मुख्य सत्ता चलती है – विचार की। विचारों का सतत संशोधन होते रहना चाहिए। एक विचार आया और गया, दूसरा विचार आया और गया फिर तीसरा आया, इस प्रकार चलता है। एक विचार असत् सिद्ध हुआ तो उसे छोड कर मनुष्य ने नया विचार उठाया। पुराने विचार को तोड कर नया विचार आता है और अपना शासन चलाता है। आज तक दुनिया में विचार का ही शासन चला है। मनुष्य को प्रेरणा भी विचार से ही मिलती है। विचारों में नित्य संशोधन होता रहता है इसलिए नित्यनिरंतर घर्षण भी चलता है। समाजशास्त्र में इसे 'संघर्ष' कहते हैं, अध्यात्मशास्त्र में इसे विचारमंथन, विचार-शोधन या संशोधन कहते हैं। नाम कुछ भी दीजिए, परंतु एकबार विचार का तंतु हाथ में आ जाये तो चिंतनशील लोग उसे अन्य लोगों को समझाते ही रहते हैं। विचार को समझाने के लिए विचार ही का शासन चल सकता है और कोई शासन काम नहीं आता। 'विचार-शासन' का अर्थ है, विचार समझना और समझाना। बिना विचार समझे किसी बात को कबूल न करना; विना विचार समझे अगर कोई हमारी बात कबूल कर ले, तो दुःखी होना और अपनी इच्छा दूसरों पर न लादते केवल विचार समझा कर ही संतुष्ट रहना।

मनुष्य को हिलानेवाली एक महत्त्व की शक्ति है, यह विचार। प्राचीन काल से आज तक हमारे पास जो भी विचार पहुंचे, उन सबका सतत चिंतन, मनन कर के उनमें से सार ले कर, निःसार को फेंक कर विचार नित्य-संशोधित होते रहे। वास्तव में यह

विचार-संशोधन भी तो क्रांति ही है। इस प्रकार क्रांति में विचार-शासन ही मुख्य है। विचार में सच्ची क्रांति तभी होगी जब वह विचारों द्वारा समझा कर स्वीकृत हो।

विचार शक्ति की कोई हद नहीं होती। किसी एक मनुष्य को ऐसा विचार सूझ जाता है कि उससे मनुष्य-जीवन में क्रांति हो जाती है। महापुरुषों के विचार में ऐसी शक्ति होती है कि वे दूसरे का जीवन पलट देते हैं। विचार एक प्रतापी शस्त्र है, उससे ऐसा काम होता है, जो दूसरे किसी शस्त्र से नहीं होता। राजा-महाराजाओं के राज्य चले जाते हैं, परंतु धर्म-पुरुषों के शासन आज तक चले आये हैं। विचार के अनुसार आचरण और आचरण के अनुसार समझाने के शास्त्र पर विश्वास रखनेवालों ने ही दुनिया में कुछ परिवर्तन किया है। सद्विचार पर बुद्धि स्थिर रखना यही 'श्रद्धा' है और वह श्रद्धा ही मनुष्य को बल देती है।

बुद्ध भगवान ने करुणा का जो विचार दिया, उससे समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। फिर सम्राट अशोक ने बुद्ध के विचारों का प्रचार किया और बाद में वह चीन, जपान, मलाया, ब्रह्मदेश, लंका आदि देशों में फैला। फ्रांस में जो क्रांति हुई, वह भी एक विचार ही के कारण हुई। मार्क्स के विचार पर सारी दुनिया में एक जमात बनी। इस तरह विचार की प्रेरणा मनुष्य को उत्स्फूर्त करती है। उसका शारीरिक जीवन तो चलता ही है परंतु उसका जो उत्थान होता है उसके पीछे विचार रहता है। विचार के कारण आंदोलन होते हैं, जोश निर्माण होता है और नया जीवन बनता है। तब समाजरचना बदलती है, जीवन का ढांचा बदलता है।

कर्तृत्व-विभाजन

विचार-शासन के साथ-साथ कर्तृत्व-विभाजन भी चाहिए। मतलव, सारी कर्मसत्ता एक केंद्र में केंद्रित न हो कर गांव-गांव में निर्माण होनी चाहिए। प्रत्येक गांव एक स्वायत्त, स्वयंपूर्ण इकाई वने। राष्ट्रीय नियोजन के वजाय ग्रामीण नियोजन हो। 'वजाय' मैंने कह दिया, वेहतर तो यह होगा कि 'नेशनल प्लानिंग' (राष्ट्रीय योजना) का ही अर्थ 'विलेज प्लानिंग' (ग्राम-योजना) हो और उस 'विलेज प्लानिंग' की मदद के लिए जो कुछ करना पडे, उतना ही दिल्ली में किया जाये। इस कर्तृत्व-विभाजन की दिशा में ही हमारा काम चल रहा है।

शासन विचार का होगा। मनुष्य को अपनी विकास-यात्रा में क्रमश: व्यक्तिनिष्ठा पर से तत्त्वनिष्ठा पर आना होगा। भगवान वुद्ध ने त्रिशरण की वात कही थी – **बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि**। आरंभ में व्यक्ति-निष्ठा हो, धीरे-धीरे समूह-निष्ठा वने और अंत में इन सबसे मुक्त हो कर केवल विचार की शरण जायें। वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वुद्धि से ही काम लेना है, तिसपर भी जीवन में कभी कोई एक क्षण ऐसा आता है, जव वुद्धि काम नहीं करती, वहां श्रद्धा काम करती है। श्रद्धा का यह तत्त्व बुद्धि का विरोधी नहीं है बल्कि उसका सहायक है। परंतु सर्वसाधारणत: विचार-शासन और कर्तृव-विभाजन रहेगा। भगवान ने वैसा ही किया है। सबको वुद्धि दे कर हरएक को अपना-अपना जिम्मा सौंप दिया है और

खुद जा कर क्षीरसागर में आराम से सो गया है । यह है विकेंद्रित कर्तृत्व की सर्वोत्तम मिसाल ।

विचार-शोधन का उत्तम साधन : पदयात्रा

विचार-शोधन का उत्तम साधन कौनसा ? अनुभव आता है कि आकाश के नीचे बाहर खुले में बडी फजर घूमते हैं तो अनेक नये विचार सूझते हैं । पुराने जमाने में ऊंट, घोडे आदि थे । लेकिन शंकर, महावीर, बुद्ध, चैतन्य, नामदेव जैसे लोग हिंदुस्तान में पैदल ही घूमे । उन्होंने त्वरित साधनों का सहारा नहीं लिया । क्योंकि वे विचार का शोधन करना चाहते थे । हवाई जहाज के इस जमाने में पदयात्रा का साधन एकदम सूझता नहीं, पर शांतिपूर्वक सोचेंगे तो विचार-शोधन के लिए सर्वोत्तम साधन 'पदयात्रा' ही है । ऐतरेय उपनिषद में एक प्रसिद्ध श्रुति है जो सबको आज्ञा देती है कि चलो रे चलो, सब चलो – **चरैवेति चरैवेति** । यह भी कहा गया है कि 'अगर तुम बैठे रहोगे, तो तुम्हारा भाग्य भी बैठ जायेगा और चलोगे तो तुम्हारा भाग्य भी चलेगा – **चराति चरतो भगः** । यह भी कहा है कि सोओगे तो कलियुग में रहोगे, बैठोगे तो द्वापर में, खडे रहोगे तो त्रेतायुग में और चलोगे तो कृतयुग में, सतयुग में आ जाओगे । इस आज्ञा पर अनेक आचारवान, विचारवान लोग निकल पडे और सारी दुनिया में संचार कर के विचारों का प्रचार किया । भगवान बुद्ध ने '**बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय**' परिव्रज्या की और उस जमाने में स्त्रियों ने भी यह परिव्रज्या की ।

संस्कृत में 'विचार' एक ऐसा सुंदर शब्द है कि उसका संबंध यात्रा के साथ, परिव्रज्या के साथ जोड़ा गया है। 'चर्' एक ऐसा अद्भुत धातु है कि उसमें से विचार, आचार, प्रचार, संचार शब्द बनते हैं। यानी कुल मिला कर एक पूर्ण प्रक्रिया हमारे हाथ में आती है, जिससे जीवन-कार्य किस तरह फैलता है इसकी कल्पना आती है। हम सत्शील को 'चारित्र्य' और सारे जीवन को 'चरित्र' कहते हैं। चारित्र्य को अंग्रेजी में कॅरेक्टर कहते हैं। मनुष्य की 'चाल' कैसी है, यह हम पूछते हैं। तो हमारी भाषा में नैतिक अर्थ के जितने शब्द हैं, वे बहुत सारे गतिसूचक हैं। यहां तक कह देते हैं कि – 'इस विषय में मेरी गति नहीं है' यानी मुझे ज्ञान नहीं है।

विचार मनुष्य को घुमाता है, स्थिर बैठने नहीं देता। हमारे धर्म का भी आदेश है कि चित्त स्थिर हुआ, उसके बाद सतत घूमना चाहिए। कहा गया – **अनिकेतः स्थिरमतिः**। स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में भी कहा गया – **पुमांश्चरति निःस्पृहः**। यानी वह रोज घूमता रहता है। मतलब, एक संकेत है कि घूमना मनुष्य के जीवन का एक अंग है। उससे अनासक्ति का अनुभव होता है और समाज में ज्ञान का प्रचार होता है।

विचारों का प्रकाशन

सामान्यतः कहा जाता है कि विचारों का प्रचार होना चाहिए। हम कहते हैं कि विचारों का प्रकाशन हो, प्रसार हो। विचार-प्रकाशन के लिए कोई बाह्य काम उठाना जरूरी होता है। भगवान

बुद्ध ने करुणा के आधार से धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। हम भूदान के आधार पर 'सर्वोदय' चाहते हैं। हमारी क्रांति की बुनियाद है – विचार-प्रवर्तन !

विचारों का प्रकाशन होना चाहिए। प्रकाश आकाश के द्वारा फैलता है। प्रकाश के प्रचार को शायद आकाश रोक भी सके,, परंतु विचार के प्रकाशन को कोई नहीं रोक सकता। विचार के कण हवा में फैलते हैं। शंकराचार्य भारतभर में घूमे, जगह-जगह अपने विचार पेश करते गये। तो उनके विचारों का रिपोर्टिंग किसने किया ? कौनसे अखबारों में उनके विचार छपे ? फिर भी आज उनके विचार कायम हैं। जो सत्य विचार है, उसको हवा फैलायेंगी। आकाश उसको उठा लेगा। चिडियां उसको फैलायेंगी। विचार-क्रांति का कार्य धर्मचक्र-प्रवर्तन का कार्य है। विचारों को समझ लेने के बाद मनुष्य के भीतर परिवर्तन हो, यही क्रांति है।

आज समाज में हिंसा, सत्ता, स्पर्धा आदि का बोलवाला है। हम इन मूल्यों को बदलना चाहते हैं। हिंसा के बजाय अहिंसा, सत्ता के बजाय सेवा, स्पर्धा के स्थान पर सहयोग स्थापित करना चाहते हैं। यह मूल्य-परिवर्तन तब होगा, जब विचारों में क्रांति होगी।

मूल्य-परिवर्तन

जोर-जबरदस्ती या हिंसा से कभी समाज बदल नहीं सकता। उससे क्रांति नहीं होती, सिर्फ ढांचा बदलता है। क्रांति तो तभी

होती है, जब ढांचा और विचार दोनों बदलते हैं। जो समझ कर विचारपूर्वक कबूल किया जाये, वही धर्म है। धर्म में जबरदस्ती नहीं हो सकती यही बात क्रांति पर लागू होती है। क्रांति यानी मूल्य-परिवर्तन, वह विचार समझाने से ही हो सकती है।

मूल्य-परिवर्तन को ही हम क्रांति समझते हैं। समाज में जो अनेक प्रकार के रचनात्मक कार्य चलते हैं, वह अलग बात है और मूल्य-परिवर्तन अलग बात है। समाज को सुखी बनाना एक वात है और मूल्य-परिवर्तन दूसरी बात। जव शाश्वत सुख की बात करेंगे, तो दोनों में फर्क नहीं रहेगा। लेकिन तात्कालिक सुख देने का काम तो सरकार भी करेगी। रचनात्मक कार्य जहाज है, वह आपको एक जगह से दूसरी जगह जरूर ले जायेगा, परंतु वह तभी होगा, जव उसके नीचे पानी होगा। क्रांति वह पानी है, जिस पर जहाज तैरेंगे। क्रांति से समाज का स्वरूप मूलतः और अंदर से वदलना चाहिए। उसके लिए शाखाग्राही काम नहीं, मूलग्राही काम हाथ में लेना होगा। वृक्ष के पत्ते, शाखा आदि तोडने से संपूर्ण वृक्ष नहीं गिरता। '**मूले प्रहार**', मूल पर आघात करने से ही पेड गिरता है। क्रांति में '**मूले प्रहार**' चाहिए। व्यापक क्रांति समाज के वर्तमान मूल्यों को जड से ही बदल देगी। इसलिए सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या राजनैतिक विचारों की नये सिरे से सृष्टि करनी होगी।

स्वराज्य के वाद सेवा-कार्य सरकार में जा कर भी हो सकते हैं। इसलिए वुद्धिमान लोग उधर आकृष्ट होंगे। परंतु क्रांति-कार्य में तो वे ही लोग टिकेंगे, जिनके हृदय में **चित्तशुद्धि की तमन्ना और**

सामाजिक क्रांति की भावना होगी। इस कार्य में वैराग्य भी चाहिए, क्रांति की भावना भी चाहिए। केवल वैराग्य होगा तो जंगल में चले जायेंगे और केवल क्रांति-भावना होगी तो आज की समाज-व्यवस्था को गालियां दे कर असंतुष्ट बने रहेंगे। हमारा यही पाथेय, संबल है – चित्तशुद्धि की तमन्ना और सामाजिक क्रांति की भावना। ये दो अनिवार्य हैं। दोनों में से एक भी नहीं होगा, तो क्रांति नहीं होगी।

संक्रांति यानी सम्यक् क्रांति

आज तक दुनिया में जो क्रांतियां हुईं, वे कत्ल से हुईं या कानून से। परंतु वैसी क्रांति स्थायी नहीं होती बल्कि वह 'क्रांति' ही नहीं होती। हरएक देश की अपनीं एक पद्धति होती है, उद्देश्य होता है, धर्म होता है। भारत का अपना एक इतिहास है। जब दुनिया अंधेरे में सोयी पडी थी, तब यहां से आत्मज्ञान का स्वच्छ प्रकाश फैला था। इसलिए यहां की क्रांति दुनिया की अन्य क्रांतियों से भिन्न, करुणा की क्रांति होगी। हम ऐसी क्रांति नहीं चाहते, जिसमें प्रतिक्रांति की संभावना हो। कत्ल से सामनेवाले के हृदय में वैर या बदला लेने की इच्छा दृढ हो जाती है।

हम तो संक्रांति चाहते हैं। मूलभूत परिवर्तन, स्थायी परिवर्तन, सम्यक्, समग्र परिवर्तन। साध्य और साधन दोनों जहां शुद्ध रहते हैं वहां सम्यक् क्रांति यानी संक्रांति होती है। सूर्यनारायण दक्षिण छोड कर बिलकुल सामने की दिशा में जाते हैं, तब उसे संक्रांति

कहते हैं। सही मुकाम पर पहुंचने के लिए रास्ता भी सही चाहिए। गांधीजी ने हमें जो साधन-शुद्धि का विचार दिया है, वह अत्यंत क्रांतिकारी विचार है। गलत साधनों से जो परिवर्तन लाया जाता है, वह अस्थायी और प्रतिक्रियात्मक होता है।

आज 'शांति' और 'क्रांति' परस्पर विरोध में खडी हो गयी हैं। शांति में जो शक्ति पडी है, उसका दर्शन जब होगा, तब क्रांतिकारी अपने साधनों में भी आमूल परिवर्तन करेगा। साध्य और साधन दोनों पवित्र होंगे, तभी क्रांति होगी।

हृदय-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन के बिना समाज-परिवर्तन की बात करना क्रांति-विचार नहीं, भ्रांति-विचार है। क्रांति-विचार तो यह है कि मनुष्य का मन बदले, सत्त्वगुण सामने आये, सत्त्वगुण की संघशक्ति बने, सारे सात्त्विक लोग कुल दुनिया की चिंता करें, रजोगुण को अंकुश में रखने की और तमोगुण को हटाने की कोशिश करें। इस तरह सत्त्वगुण बढेगा, तभी क्रांति होगी।

हृदय-परिवर्तन करने की शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। उसके लिए हृदय में भक्तिभाव चाहिए। और चाहिए हृदय की आत्यंतिक शुद्धि ! ईश्वर का नाम हम लें या न लें पर भक्ति के बिना किसी का हृदय-परिवर्तन करने की शक्ति नहीं आती। गौतम बुद्ध, नारद, नानक, चैतन्य महाप्रभु आदि हृदय-परिवर्तन करने की शक्ति के उदाहरण हैं।

क्रांति की प्रक्रिया में क्रांति

यह तो मानी हुई बात है कि क्रांति जब होती है तब उसका त्रिकोण होता है। प्रथम व्यक्तिगत जीवन में परिवर्तन होता है, फिर विचार-परिवर्तन होता है और फिर समाज-परिवर्तन होता है। ये तीनों परिवर्तन जब होते हैं, तब क्रांति होती है। प्रथम व्यक्तिगत परिवर्तन, जैसे कार्ल मार्क्स को एक विचार सूझा। शंकराचार्य को, नानक को, टॉल्स्टॉय को अलग-अलग काल में अलग-अलग विचार सूझे। उसके बाद वह व्यक्ति कोशिश करता है कि समाज में उसका प्रचार हो। इसलिए विचार-परिवर्तन की जरूरत होती है। उसके बाद समाज-परिवर्तन होता है।

बहुत दफा देखा गया है कि इनमें से एकाध प्रक्रिया कर ली तो क्रांति हो गयी ऐसा लगता है, लेकिन जब तक तीनों प्रक्रियाएं नहीं की जातीं तब तक क्रांति नहीं होती।

विचारकों के द्वारा विचार-परिवर्तन का काम होता है। वे परिस्थिति-परिवर्तन की भूमिका तैयार करते हैं। अनुरोधी-प्रतिरोधी आदि सभी विचार समाज के सामने सातत्यपूर्वक रखे जायें, उनका अध्ययन चले और जो विचार सही लगे, उस पर अमल करने की कोशिश हो। समाज के सामने विचार रखते समय तत्काल परिणाम की अपेक्षा नहीं रखी जा सकती। शुद्ध जीवन की भूमिका में प्रयुक्त विचार को रख देना ही विचारकों का काम है। विचार-क्रांति करने में चाहे समय कम लगे या ज्यादा, इसकी चिंता हमें नहीं करनी है। विचार-क्रांति शीघ्र न होती हो, तो 'अविचार क्रांति' करनी चाहिए, ऐसा हम नहीं मानते। हम सिर्फ 'शीघ्रवाद'

को क्रांति नहीं कह सकते। कोई अगर हमसे कहेगा कि आपको शीघ्र खाना मिलना चाहिए, फिर चाहे रोटी न मिले तो जहर खा लेना चाहिए। इस तरह के शीघ्र भोजन के विचार को हम नहीं मानते। हम तो समुचित भोजन के विचार को मानते हैं। यह ठीक है कि भूखे को जितना जल्दी खाना मिले उतना अच्छा ही है। समय का तकाजा भी एक चीज है और विचार-क्रांति भी जल्द से जल्द हो यह अच्छा ही है। लेकिन चाहे शीघ्र हो या देर से, चीज वही बननी चाहिए, जो बनानी होती है। इसलिए 'शांतिमय क्रांति,' 'रक्तपातयुक्त क्रांति' जैसे शब्द फिजूल हैं। क्रांति कभी कत्ल या कानून से हो ही नहीं सकती। क्रांति तो होती है, जनशक्ति से, विचार से, करुणा से।

इन दिनों बहुत-से लोग क्रांति का नाम लेते हैं। उनमें कुछ लोग ऐसे हैं, जो समझते हैं कि जोर-जबरदस्ती से क्रांति करेंगे। इतना ही नहीं, उन्होंने क्रांति का अर्थ ही खूनी क्रांति कर लिया है। अगर गांव जला दिया तो क्या वह क्रांति होगी? राज्य बदल गया, तो क्या वह क्रांति हो गयी? किसी भी प्रकार के बदल को क्रांति नहीं कहा जाता। क्रांति में तो बुनियादी, मूलभूत फर्क होना चाहिए। मूल्य में जो बदल होता है, वह शांतिमय ही होता है।

जब तक मन में क्रांति नहीं होती, तब तक बाहर क्रांति होती ही नहीं। मन मारपीट कर बदला नहीं जा सकता। वह तो विचार ही से बदला जा सकता है। इसलिए हमें प्रथम तो क्रांति की प्रक्रिया में ही क्रांति करनी होगी। हिंसा या जबरदस्ती से नहीं। मनुष्य का मन बदल कर हमें वर्तमान राजनीति, अर्थनीति, समाज-नीति बदलनी हैं। लेकिन मन बदलने की बात आती है तो कुछ

लोग कहते हैं कि ऐसी हृदय-क्रांति हमसे नहीं होगी। उन्होंने मान लिया है कि मनुष्य का मन जैसा आज है, वैसा ही रहेगा और फिर भी वे दुःखमुक्ति चाहते हैं। इस तरह की दुःखमुक्ति का उपाय तो भगवान बुद्ध को भी नहीं सधा। उन्होंने दुःखमुक्ति के लिए तृष्णाक्षय की बात कही। मन तो बदलना ही होगा।

हमने एक मंत्र दिया है – सत्य, प्रेम, करुणा। लोग कहते हैं कि प्रेम है फिर अहिंसा क्यों नहीं कहते, करुणा क्यों कहते हैं ? तो अहिंसा और करुणा दोनों पर्याय हैं। अहिंसा का एक अंश प्रेम है और दूसरा अंश करुणा है। प्रेम यानी दूसरे के सुख से सुखी होना। अहिंसा का दूसरा पहलू है, दूसरे के दुःख से दुःखी होना, वह है करुणा। दूसरे का दुःख देख कर आंसू बहायें, इतने से नहीं होगा। करुणा में 'कृ' धातु है यानी कुछ न कुछ करना। करुणा दिल में बैठ गयी तो वह खामोश नहीं बैठने देगी। वह मदद में दौड जाती है। तो समाज के दुःखों से द्रवित हो कर हमारे हृदय से करुणा बहनी चाहिए।

हम गांवों में सफाई के लिए जाते हैं, बीमारों की सेवा करते हैं, उसमें करुणा होती है। गृहस्थ लोग अनेक आपत्तियों में फंसे हैं, उस हालत में उनको मदद करने की इच्छा होती है। परंतु यह करुणा मूलग्राही नहीं है, शाखाग्राही है। भगवान बुद्ध ने कहा कि दुःखमुक्ति के लिए वासनाक्षय जरूरी है। यह उनकी मूलग्राही करुणा है। हमें समाज में मूलग्राही काम करना है। इसलिए क्रांति तब होती है, जब आमूलाग्र परिवर्तन हो। समाज के ढांचे को बदले बिना कुछ काम करने हम जाते हैं तो उससे बहुत ज्यादा

निकलता नहीं है। समूची समाज-रचना ही बदलनी चाहिए। आज समाज में करुणा नहीं है, सो बात नहीं, परंतु एक बाजू युद्ध भी चलता रहे और दूसरी बाजू करुणा-कार्य भी चलता रहे, ऐसा स्थान करुणा का है। समाज के मसले करुणा से हल हो सकते हैं, यह अभी तक हुआ नहीं। हमारी कोशिश यही है कि बुनियादी सवाल करुणाशक्ति द्वारा हल हो।

मनुष्य के हृदय-परिवर्तन का प्रयास गौतम से गांधी तक होता आया है। यह तो नहीं कहा जायेगा कि उनके प्रयोग विफल रहे। उनके प्रयासों के कारण ही आज हम जानवर से आदमी बने हैं। संतों की प्रक्रिया में स्वार्थ, ममता छोडेंगे तो पारमार्थिक लाभ होगा, यह बात थी, आचार्यों की प्रक्रिया में विचार-परिवर्तन की प्रक्रिया थी, तो साम्यवादियों की प्रक्रिया में बाह्य परिस्थिति के परिवर्तन की प्रक्रिया है। साम्ययोग में ये तीनों प्रक्रियाएं समाविष्ट हैं। उसमें हृदय-परिवर्तन के लिए चित्तशुद्धि तथा कार्य और विचार-परिवर्तन के लिए तत्त्वविचार का प्रचार करना होगा। हृदय, विचार और समाज इन तीनों का परिवर्तन एकसाथ करना पडेगा। सामाजिक क्रांति की यह तिहरी प्रक्रिया है।

यह तो स्पष्ट ही है कि विचार-परिवर्तन कर के हम क्रांति चाहते हैं। हम 'स्टेटस को' – 'जैसे थे' वादी नहीं हैं। समाज जैसा है वैसा नहीं रहना चाहिए। परंतु यह भी न हो कि वह ऊपर-ऊपर से बदले और हमें भ्रम हो कि वह बदला है। इसलिए हम चाहते हैं कि बुनियादी क्रांति हो।

आज की सरकार पुरानी समाज-रचना पर खडी है। सरकार उस समाज-रचना में फरक किये विना जितनी सेवा कर सकती है, करती है। 'समाजवादी समाज रचना' का सुंदर नाम तो लिया जाता है, परंतु दुनिया में समाजवाद के इतने अर्थ हैं कि उस अर्थ को पूंजीवादी भी हजम कर लेंगे। हिटलर का राज्य भी एक समाजवादी राज्य था। उसने नाम रखा था 'नेशनल सोशलिस्ट स्टेट !' डवल इंजीन लगाया था। फिर भी दुनिया के नाश के सिवा उससे और कुछ नहीं हुआ और खुद उसका भी नाश हो गया। इसलिए सत्ता से समाज का पुराना ढांचा वदलने का कार्य कठिन है। जनशक्ति द्वारा ही लोक-क्रांति का काम हो सकता है।

कानून और सत्ता हिंसा जैसे सर्वथा निरुपयोगी नहीं हैं, इसलिए कानून और सत्ता का उपयोग है। परंतु कितना उपयोग है? जनशक्ति द्वारा कोई एक विचार सर्वमान्य हो जाये इसके वाद उसका कानून हो जाये और इसके लिए सत्ता का भी उपयोग है। जैसे कोई किताव लिखी और अंत में 'समाप्तम्' लिख दिया। उस 'समाप्तम्' उतना इस कानून का उपयोग है। 'समाप्तम्' लिखा न लिखा, इसका खास अर्थ नहीं। जैसे आज चोरी करना कानूनन एक अपराध है। परंतु मान लीजिए कि वैसा कानून न हो तो क्या आप और हम चोरी करना शुरू कर देंगे? यह समाजमान्य चीज है कि चोरी नहीं करनी चाहिए, फिर उसका कानून हो गया। तो कानून और सत्ता का उपयोग वाद में है। परिवर्तन उनसे नहीं लाया जा सकता।

आध्यात्मिक गहराई में जाना होगा

संसार में कुछ मनुष्य गुणवान और आचरण-समर्थ होते हैं। उनके विचारों में परिवर्तन कर दिया जाये तो हृदय-परिवर्तन की चिंता करने का कारण नहीं। जिनका हृदय पहले से ही अच्छा है, उन्हें अपने विचार समझा दिये जायें। फिर उसके आगे का काम विचार ग्रहण करनेवालों का होगा। यह शंकराचार्य की पद्धति है। इस शांकर प्रक्रिया से 32 वर्ष की छोटी-सी उम्र में शंकराचार्य ने संशयाकुल समाज को विचारनिष्ठ बना दिया। फिर उनके बाद रामानुज, मध्वादि का काम सरल हो गया; क्योंकि निष्ठा निर्माण करने का काम पहले हो चुका था। इस प्रक्रिया में विचार पर निष्ठा चाहिए। केवल समझाना ही एकमात्र साधन। शंकराचार्य समझाने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते थे। वे कहते थे कि **शास्त्रं ज्ञापकं, न तु कारकम्**। हम केवल समझाने के अधिकारी हैं, करवा देने के नहीं। जैसे साईन-बोर्ड केवल रास्ता दिखायेगा, किसी का हाथ पकड कर मुकाम पर पहुंचाने की जिम्मेवारी उसकी नहीं। इसमें बुद्धि-स्वातंत्र्य भी रहता है। बाबा को यह शांकर-प्रक्रिया ज्यादा अनुकूल है।

शंकराचार्य की इस पद्धति के कारण हिंदूधर्म में कहीं घर्षण नहीं रह पाया। योरप में विज्ञान के आविष्कारों के साथ चर्च का संघर्ष पैदा हो गया। यहां तो शंकराचार्य ने कह दिया कि यदि सौ-सौ श्रुति आ कर भी कह दें कि अग्नि गरम नहीं होती, तो उसे कोई नहीं मानेगा। क्योंकि यह विज्ञान का प्रत्यक्ष विषय है। इससे श्रुतिविरोध या धर्मविरोध हो ही नहीं सकता। यह शंकराचार्य

का पराक्रम है। इसी लिए यहां विचार-स्वातंत्र्य और बुद्धि-स्वातंत्र्य रह सका।

ज्ञान ही मेरा शस्त्र और वही मेरा अस्त्र भी है, इस ज्ञान के बल पर मैं हर प्रकार के अज्ञान को परास्त करूंगा – यह शंकराचार्य की प्रतिज्ञा थी। हमारा भी विचार-परिवर्तन के बल पर समाज का परिवर्तन करने का प्रयोग है।

इस प्रकार सर्वोदय जैसी हृदय-परिवर्तन का दावा करनेवाली विचार-पद्धति जिन्होंने अपना ली, उन लोगों ने शंकराचार्य, बुद्ध, गांधी जैसे पुराने संतों से भी अधिक गहराई में जाने की प्रतिज्ञा की। समाज-रचना बदलनी है, पूरा का पूरा जीवन-परिवर्तन करना है, नया विश्वमानव बनाना है – यह तो ब्रह्मदेव की भाषा है, किसी सामान्य प्राणी की नहीं। ऐसी भाषा जब बोलते हैं, तो हमें आध्यात्मिक गहराई में जाना होगा। हम गहराई में नहीं जाते हैं, आत्मतत्त्व का संशोधन नहीं करते हैं, स्वाध्याय नहीं करते हैं, तो अपनी अपेक्षित कल्पना से उलटे परिणाम लानेवाले साबित हो सकते हैं।

क्रांति की प्रक्रिया : उपहार-पद्धति

कुछ लोग सर्वोदय-समाज की रचना को 'लूज ऑर्गनाइजेशन' यानी 'शिथिल रचना' कहते हैं। रचना शिथिल हो, तब तो कोई काम ही नहीं बनेगा। इसलिए सर्वोदय-समाज की शिथिल रचना नहीं, 'अरचना' है, यानी हम केवल विचार के आधार पर ही खडे रहना चाहते हैं। अनुशासनबद्ध दंडयुक्त रचना में शक्ति तो होती

है, परंतु वह शिवशक्ति नहीं होती। हमें शिवशक्ति पैदा करनी है, इसलिए हम विचार-शासन को ही चाहते हैं।

विचार के साथ-साथ संचार, प्रचार, आचार चाहिए ही। उसके बिना विचार का कोई महत्त्व नहीं है। विचार में जो 'चर' धातु है, वही प्रेरित करता है कि विचार-प्रस्थापना के लिए संचार, प्रचार, आचार हो। विचार-क्रांति की पद्धति, प्रक्रिया, साधन कौनसा? इसके जवाब से यह स्पष्ट हो जायेगा कि हमारा विश्वास किस चीज पर है। बुद्धि की आजादी अगर मुख्य चीज है, तो विचार देने की हमारी पद्धति **प्रहार-पद्धति** नहीं, **उपहार-पद्धति** होगी। उपहार शब्द हमें दिशा दिखाता है कि विचार-परिवर्तन किस तरह हो। हमारी क्रांति की प्रक्रिया को हमने अहिंसा नाम दिया है तो **उपहार-पद्धति भी अहिंसा की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया हमें लागू करनी है।** हमें खंडनमिश्र नहीं, मंडनमिश्र होना है। सबके सहयोग से हमें समाज को बदलना है।

सहयोग हमने चींटियों से सीखा। लाखों चींटियां एक सांप को ले जाती हैं, उसमें हजारों मर भी जाती हैं, समाज के लिए त्याग करती हैं। उनकी अक्ल सामूहिक है। जिससे जितना मिला उतना लेती हैं, नहीं मिला तो आगे बढती हैं। तात्पर्य यह कि जिनसे जितना सहयोग मिलता होगा, उतना लेना होगा। तब होगी भारत जैसे विशाल देश में क्रांति! ईश्वर ने हरएक को ऐसी कुछ शक्ति, गुण, चीज दी है, जो प्रदान की जा सकती है। सबकी इस शक्ति को सम्मिलित किया जाये। इसवास्ते हम गरीबों से भी श्रमदान मांगते हैं।

वर्तमान क्षण – क्रांति का क्षण

क्रांति कब हो, यह सवाल आता है। हम कहते हैं कि वर्तमान काल का महत्त्व हमेशा ही होता है। वर्तमान भूतकाल का फल और भविष्य का बीज होता है। दोनों ओर से उसका महत्त्व अद्वितीय ही है। भूत और भविष्य के संधिस्थान पर होने के कारण स्वभावतः वह क्रांति का काल ठहरता है। फिर वह क्रांति जन्मदात्री हो या मरणदात्री, वृद्धिकारिणी हो या क्षयकारिणी, यह हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर है। **वर्तमान क्षण हमेशा क्रांति का क्षण होता है।** इतना ही नहीं, वह **न भूतो न भविष्यति** होता है। इसलिए वर्तमान काल निःसंदेह क्रांति का ही नहीं, अपूर्व क्रांति का काल होता है। इसलिए कहा गया कि 'जो काल करे सो आज करें। आज करे सो अब कर लें।'

क्रांति में उतावलापन न हो, परंतु शीघ्रता तो होनी चाहिए। क्रांति जल्दी-जल्दी में न हो, परंतु आराम से, फुरसत से भी क्रांति नहीं होती। पुण्यकार्य में वेग नहीं रहता, तो पुण्य क्षीण होगा और पाप जोर पकडेगा। बुद्ध भगवान ने कहा कि जो शख्स पुण्य कर्म धीरे-धीरे, मंद गति से करता है, उसका मन पाप में रमता है। योगसूत्र में भी कहा है – **तीव्रसंवेगानाम् आसन्नः** (तीव्रतावालों को बहुत शीघ्र फल मिलता है।) नदी **वेगेन शुध्यति**, नदी का वेग रुक गया तो नदी मलिन होती है। इसलिए धीमी गति होगी तो काम नहीं बनेगा, क्योंकि विरोधी ताकतें जोर करेंगी। इसलिए आवेग न हो, परंतु वेग तो अवश्य चाहिए। अहिंसा में भी 'गो-स्लो' (धीमे चलो) से काम नहीं होगा।

समझने की बात है कि क्रांति का फेज्ड, क्रमिक कार्यक्रम नहीं बन सकता। यह चीज ही ऐसी है कि अगर उसका टाईम टेबल (समय-क्रम) बनाना चाहें, तो नहीं बन सकता। इसलिए हममें ऐसी तीव्रता होनी चाहिए कि यह चीज हमें **अभी** करनी है। क्रांति में सातत्य अति आवश्यक है। बिना सातत्य के क्रांति नहीं होती। सातत्य का गुण हमें सूर्यनारायण से सीखना चाहिए।

क्रांति : साद्यंत सुंदर कला, आंदोलन नहीं आरोहण

चित्रकला और दूसरी कलाओं का यह अनुभव है कि जब कोई कलाकृति पूर्ण हो जाती है, तभी उसका सौंदर्य परिपूर्णरूप से प्रकट होता है। जब कोई कलाकृति तैयार होने लगती है, तब उसके बीच की अवस्थाओं का अगर निरीक्षण करें, तो उसमें विरूपता का भी आभास होता है। परंतु सच्ची कलाकृति का यह लक्षण है कि शुरू से आखिर तक उसमें कुछ न कुछ सौंदर्य-दर्शन होता ही है।

क्रांति एक श्रेष्ठ कला है। यह शब्द नया है, लेकिन विचार नया नहीं। पुराने जमाने से ले कर आज तक जो भी जीवन-परिवर्तन के प्रयत्न होते आये हैं, वे सारे प्रयत्न क्रांति के लिए ही थे और सबमें एक कला विद्यमान रही है।

भूदान-यज्ञ में इस प्रकार शुरू से कुछ न कुछ सौंदर्य दर्शन होता रहा है। सौंदर्य का लक्षण यह है कि वह किसी एक देश को नहीं, सारी दुनिया को, पशु-पक्षियों तक को खींचता है। भूदान-आरोहण

नें दुनिया का ध्यान अपनी ओर खींचा है। इस आरोहण का सौंदर्य इस बात में है कि इससे मानवता विकसित होती है, जबकि आज मानवता के विकास में अनेक विघ्न बाधक बन कर खडे हैं। इस आरोहण में जो विरूपता दिखायी देती है, वह हम क्रांतिवाहक की है, मूल विचार में कोई दोष नहीं है। बाहर के दोषों का हम जरूर शोधन करें, परंतु साथ-साथ इसका मूल सौंदर्य-दर्शन भी होते रहना चाहिए।

हमने इस क्रांति-कार्य को 'आंदोलन' नहीं, 'आरोहण' माना है। आंदोलन में कार्य इधर से उधर और उधर से इधर लोलक के मुताबिक आंदोलित होता रहता है। परंतु आरोहण में है, सतत चढना। किसी पर्वत पर चढते हैं तो लगता है कि हम शिखर पर पहुंच गये, परंतु ऊपर पहुंचने पर मालूम होता है कि इस पहाड के आगे और एक पर्वत है, जो चढना अभी बाकी है। आरोहण में सतत चढना है।

इस काम में पहले भूदान की बात थी, बाद में 'ग्रामदान' आया। भूदान में भूतदया और करुणा की प्रेरणा थी, ग्रामदान में इसके अलावा साम्ययोग की बात है। नदी का प्रवाह समुद्र में मिल गया तो उसे समुद्र का रूप मिलता है। ग्रामदान एक समुद्र है और भूदान एक नदी।

उत्क्रांति की तरह क्रांति धीरे-धीरे नहीं होती है, इसलिए वह दीख नहीं पडती। क्रांति का एकदम अचानक दर्शन होता है। अंदर से गुप्तरूप से उसका विकास होता रहता है। बालक पहले गर्भावस्था में होता है, तब उसका विकास होता रहता है, फिर

जन्म होता है, और साकार मूर्ति का दर्शन होता है तो वह क्रांति है। जन्म लिया यानी अव्यक्त में से व्यक्त में आ गया। फिर बचपन से मनुष्य विकसित होते-होते बूढा हो जाता है और दोनों अवस्थाओं के चेहरों में इतना फर्क पड जाता है कि पहचान नहीं पाते कि वह एक ही मनुष्य है। फिर भी यह उत्क्रांति है। मृत्यु भी क्रांति है। उसमें मनुष्य एकदम व्यक्त में से अव्यक्त में चला जाता है।

व्यक्ति और समाज : हितविरोध नहीं, हितसाम्य

बहुत दफा यह सवाल खडा किया जाता है कि व्यक्ति ही मुख्य चीज है। समाज जैसी कोई चीज कहां दीखती है? इसलिए व्यक्ति सुधरे तो पर्याप्त है। गुण-विकास और समाज-रचना, ये दो एकांतिक निष्ठाएं आदिकाल से चली आयी हैं। गुणविकासवादी कहते हैं, "गुणों की बदौलत ही यह जगत् चल रहा है। मनुष्य का जीवन भी इसी तरह गुण-प्रेरित है। ज्यों-ज्यों गुणों का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों समाज की रचना सहज ही बदलती जाती है। इसलिए सज्जनों को अपना सारा ध्यान व्यक्ति के गुणविकास पर केंद्रित करना चाहिए। समाज-रचना के फेर में पडना व्यर्थ ही अहंकार है।"

इसके ठीक विपरीत साम्यवाद का तत्त्वज्ञान है। उसका कहना है, "जिसे आप गुणविकास कहते हैं, वह यद्यपि चित्त में होता है,

पर चित्त द्वारा हुआ नहीं होता, वह परिस्थिति द्वारा किया होता है। परिस्थिति के मुताबिक चित्त बनेगा। इसलिए परिस्थिति बदलो।"

उत्क्रांति की बात अपनी जगह है ही। प्रकृति में आहिस्ता-आहिस्ता परिवर्तन होते-होते मनुष्य हुआ है, यह बात मैं भी स्वीकार करता हूं। परंतु मैं यह नहीं मानता कि मनुष्य केवल उत्क्रांति का परिणाम है। मनुष्य में गुणात्मक परिवर्तन – क्वॉलिटेटिव्ह चेंज आया है। इसलिए दूसरे प्राणियों से वह बिलकुल भिन्न है। इस दृष्टि में सबका महत्त्व है। व्यक्ति का भी महत्त्व अपने स्थान में है और जनता, व्यक्तियों का जो समूह है समाज, उसका भी अपना एक महत्त्व है। समाज में व्यक्ति आ ही जाता है। जैसे प्रत्येक नदी सागर में समर्पित होती है, वैसे व्यक्ति समाज में समर्पित हो।

कुछ समाजशास्त्रियों ने व्यक्तिविरुद्ध समाज ऐसा एक झगडा नाहक पैदा कर दिया है। वास्तव में व्यक्ति और समाज के बीच कोई विरोध नहीं है, बल्कि दोनों का सामंजस्य होता है, तभी पूर्ण चीज बनती है।

फूल की माला में हरएक फूल अलग-अलग रहता है। फूलों के अंदर से धागा या सूत्र पिरोया हुआ होता है। इसी तरह हमारे समाज की रचना होनी चाहिए। हर व्यक्ति को अपने विकास का पूरा मौका समाज की ओर से मिलना चाहिए और सभी व्यक्तियों की एकता के लिए प्रेम का सूत्र चाहिए। साम्ययोग के समाज का आदर्श यह फूलों की माला है।

इससे भिन्न गुलदस्ता होता है। उसमें सब फूलों को इकट्ठा बांधा जाता है। यह भी एक समाज है, जिसमें व्यक्ति की आजादी नहीं रहती। जैसे लकड़ियां बांध देते हैं वैसे फूलों को बांध देना। उसमें हर फूल की अपनी विशेषता नहीं रहती।

इस प्रकार दो तरह की समाज-रचना होती है। लेकिन अपने देश का जो समाजशास्त्र है वह कहता है कि व्यक्ति की निष्ठा समाज के लिए होनी चाहिए। इसलिए सारे व्यक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा से समाजपरायण बनें और अपना समर्पण समाज को करें। दूसरी तरफ समाज की तरफ से हर व्यक्ति को विकास का पूरा मौका हो और सहज स्वाभाविक रीति से ही समाज का अनुशासन बन जाये। इस तरह की व्यवस्था हमारे देश के समाजशास्त्र को अनुकूल है। अभी तक इस पर पूरी तरह से अमल नहीं हो पाया है। अभी समाज नाम की चीज बनी ही नहीं है। परंतु साम्ययोग द्वारा हम अपने समाज को इस जमाने के लायक बनाना चाहते हैं, जिसे हम सर्वोदय या साम्ययोगी समाज कहते हैं।

हमें यह जो नरदेह मिली है, वह नारायण की पूजा के लिए ही मिली है। 'नारायण' कौन है? नरों का जो समूह है, उसके देवता को नारायण कहा है। यह **'सहस्रशीर्षा:'** समाजनारायण है, उसकी सेवा कर के प्रसादरूप में जो मिले उसे सेवन करना, यही नर-धर्म है, यही नारायण-धर्म है और यही भागवत-धर्म है। समाज से दूर जंगल में जा कर ध्यान करना कोई नारायण-धर्म नहीं है। प्रारंभिक साधना में वह भी जरूरी हो सकता है, परंतु समाज की सेवा कर के उससे जो कुछ पाया है, वह वापस लौटाना, यही नारायण-धर्म है।

वास्तव में समाज तब बनता है, जब हरएक व्यक्ति संयमशील होता है। जहां समाज का हरएक व्यक्ति अपने को समाज से अलग मानता है, वहां समाज नहीं बन सकता। 'समाजदेवो भव' माननेवाला व्यक्ति ही समाजवादी बन सकता है। जब हर व्यक्ति यह मानता है कि अपनी सारी शक्ति समाज को समर्पित करनी है, तब समाज बनता है।

आदर्श समाज-रचना समझाने के लिए उत्तम दृष्टांत है भगवान का दिया हुआ हमारा यह शरीर। शरीर के विविध अवयव हैं, सबके अलग-अलग काम हैं, फिर भी सब मिल कर के पूरा एक शरीर बनता है। शरीर के सारे अंग एक-दूसरे के सहयोग में काम करते हैं, तभी उन अवयवों का महत्त्व है। पांव में कांटा चुभ गया, तब अगर हाथ यह कहेगा कि मैं तो ऊंचा हूं, मैं अलग रहना चाहता हूं तो हाथ का महत्त्व बढने के बजाय घटेगा। हाथ सबकी सेवा करता है इसलिए उसका महत्त्व है। इसी तरह प्रत्येक अवयव का है। सारे अवयव एक-दूसरे की सेवा करते हैं, तभी शरीर स्वस्थ रहता है। इसी तरह समाज एक शरीर है और व्यक्ति उस शरीर के विविध अंग हैं। व्यक्ति का महत्त्व बढाना है तो उसे समाज का सेवक बनना होगा।

यह बात भी सर्वथा गलत है कि व्यक्ति और व्यक्ति या व्यक्ति और समाज के हितों में विरोध है। सच्चे हित कभी परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। जहां परस्पर हित टकराते हैं, उसे समाज नहीं, जंगल कहना पडेगा। जंगल में शेर का हित हिरन को खा जाने में है और हिरन का हित शेर से दूर भाग जाने में है। आदर्श समाज में परस्पर हित-विरोध नहीं, हित-साम्य होगा। समाज के

हित के लिए एक व्यक्ति के हित की हानि भी साम्ययोग कबूल नहीं करेगा ।

सब व्यक्तियों का समान हित सधना चाहिए, यह सर्वोदय का विचार है । इसलिए इसमें व्यक्ति की ज्यादा से ज्यादा प्रतिष्ठा है । परंतु व्यक्ति की प्रतिष्ठा कैसे बढेगी, यह भी सोचना पडेगा । व्यक्ति अपनी संपत्ति पकड रखगा तो उसकी प्रतिष्ठा बढेगी या वह अपना सबकुछ समाज की सेवा में अर्पित कर के अपनी आवश्यकता के मुताबिक समाज से लेगा, उसमें उसकी प्रतिष्ठा बढेगी ? माता की प्रतिष्ठा तब बढती है, जब वह अपना सर्वस्व बच्चे को देती है । मां का गौरव इसलिए नहीं है कि उसे 'प्रापर्टी' का हक है । जिस तरह व्यक्ति की प्रतिष्ठा परिवार के लिए अपना सर्वस्व समर्पण करने में है, वैसे ही समाज के लिए समर्पण करने में ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा है । विज्ञान युग में अब हमें परिवार को व्यापक करने के लिए गांव को ही परिवार बना कर उसे समर्पित हो कर प्रतिष्ठा बढानी होगी ।

सर्वोदय में जीवन के टुकडे बनते नहीं । व्यक्ति के विरुद्ध समाज खडा नहीं होता और न समाज के विरुद्ध व्यक्ति खडा होता है । न व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन के बीच कोई विरोध आता है । सेवा और चिंतन, लोकांत और एकांत में परस्पर कोई विरोध नहीं । कोई भी साधना जब तक व्यक्तिगत रहती है, तब तक उसकी शक्ति सीमित रहती है । जब उसको सामूहिक स्वरूप आता है, तभी उसकी असलियत प्रकट होती है । हम किसी एक शरीर में कैद नहीं हैं । वास्तव में साधना भी व्यक्तित्व को मिटाने के लिए ही होती है । जब हम 'व्यक्तिगत साधना' कहते

हैं तो उसमें 'व्यक्ति' ही 'साधना' को काटता है। व्यक्तिगत जीवन में जो भोगादि बातें आती हैं, वह भोग भी जब सामूहिक तौर पर बंट जाता है तो उस भोग का निरसन हो जाता है और उसे त्याग का रूप आता है। इसी तरह निजी आध्यात्मिक उन्नति की कामना भी अगर व्यापक हो जाये, तो दोषनिवृत्ति होती है। जैसे अपनी कोठरी को स्वच्छ रखना हमारा विशेष कर्तव्य है, परंतु कुल घर की जिम्मेवारी हमारी ही है। इसी तरह व्यक्तिगत साधना की जिम्मेवारी हरएक पर विशेप रहती है, तो भी साधना का दोष तब मिटता है, जब वह सामूहिक होती है। इसलिए ध्यान, योग, चिंतन, सद्गुण आदि सबकुछ सामूहिक होने चाहिए। संशोधन के प्रयोग पहले प्रयोगशाला में ही होते हैं, परंतु संशोधन का विनियोग तो कुल समाज के लिए ही होता है।

गणसेवकत्व का, सख्यभक्ति का युग

जब तक गुण को सामूहिक रूप नहीं देते हैं, तब तक गुणों की ताकत प्रकट नहीं होती।

आजकल सज्जनता खास लोगों का गुण हो गया है। उसके लिए 'महात्मा' शब्द रूढ हुआ है। लेकिन आत्मा न महान है, न अल्प है। वह तो जितना है, उतना ही होता है। पर हम सब 'अल्पात्मा' बनें और चंद लोगों को 'महात्मा' बना कर उनकी मूर्तियां बनायें, उनकी पूजा करें यह उचित नहीं है।

एक तरफ ऊंचा पहाड और दूसरी तरफ बडा गहरा गड्ढा यह स्थिति अच्छी नहीं। कोई बडा नेता बन जाये और बाकी सब अनुयायी बन कर उनका अनुसरण करें, यह दास्यभक्ति है। समाज में सबका पारस्परिक संबंध नेता – नय का न हो, मैत्री का हो। सबको समान रूप से महान पुरुष बनने का अवसर होना चाहिए। सबको समान आरोग्य, भोजन, शिक्षा, रक्षण आदि मिले। महापुरुष की योग्यता औसत लोगों में आनी चाहिए। अब व्यक्ति-पूजा का युग नहीं है। उसमें व्यक्तित्व का विकास रुकता है।

मुझे तो अपने लिए भी पहाड सरीखा ऊंचा होना सुखकर नहीं लगता। मेरी मिट्टी आसपास की जमीन पर फैल जाये, इसी में मुझे आनंद है। लोग मुझसे मार्गदर्शन की अपेक्षा रखते हैं, तब मैं उन्हें कहता हूं कि मैं कोई नेता नहीं हूं। मेरा सब लोगों से एक ही संबंध है और वह हैं, सख्य संबंध। हम सब एक पथ के पथिक हैं। कोई आगे है, कोई पीछे, इतना ही फर्क है।

जिसे 'संगठन' कहते हैं, उस पर मेरा बहुत विश्वास नहीं है। कुल इतिहास का प्रवाह और देश-दुनिया का हाल देखते हुए मेरा मानसिक निर्णय यह है कि संगठन के जरिये अहिंसात्मक क्रांति हो नहीं सकती। संगठन से बल मिलता हो तो वह हिंसक कार्य को ज्यादा मिलता है, जिसे हम 'बेनीवॉलन्ट डेस्पॉटिज्म' यानी 'लोक-हित में सत्ता' कहते हैं।

प्रजा का कल्याण करनेवाली सरकार से यानी वेलफेअर स्टेट में बुद्धि का विकास करने की बात नहीं सोची जाती। वह प्रजा को सुख दे सकती है। इस प्रकार का संगठन कल्याणकारी, विशिष्ट केंद्रित अथवा हिंसात्मक हो सकता है। परंतु जिसे हम विकेंद्रित

जनशक्ति कहते हैं, उसको खडी करने में हमें उससे कम सहायता मिलती है।

अहिंसक क्रांति के काम में नेतृत्व या प्रभुत्व नहीं, इस काम में तो गणसेवकत्व ही हो सकता है। हम मानते हैं कि नेतृत्व के दिन अब समाप्त होने चाहिए। किसी एक व्यक्ति का प्रभाव सब पर पडे, इसके बजाय संघ-शक्ति बढे, लोगों की शक्ति बढे, ऐसा होना चाहिए। अहिंसक क्रांति व्यक्ति-निष्ठ नहीं हो सकती। हमें व्यक्ति से ऊपर उठना है और गणसेवकत्व प्रकट करना है।

ऐसी भी कोई सत्ता है, जो सत्ता नहीं चलाती फिर भी सत्ता चलती है। शासनमुक्त समाज का अर्थ यही है कि उसमें सत्य की सत्ता चलेगी। किसी व्यक्ति की किसी पर हुकूमत नहीं चलेगी। आत्मानुशासन चलेगा। इस प्रकार हमें स्वशासित समाज खडा करना है।

सब बातों की अपेक्षा मैत्री का नाता ही मैं श्रेष्ठ मानता हूं। गुरु-शिष्य का नाता पवित्र नाता है, परंतु मेरा कोई गुरु नहीं और मेरा कोई शिष्य नहीं है। पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक आदि नाते हैं, परंतु वे सब एकतरफा और एकांगी होते हैं। इसलिए मैं उनको गौण समझता हूं।

भाईचारा, बंधुता एक बहुत बडा धर्म है, परंतु वह भी मुझे गौण लगता है। क्योंकि भाई जितना झगडा करता है, उतना झगडा शत्रु ही कर सकता है। भाई-भाई के संबंध में अधिकार और हक की कल्पना है। मैं जब गांव को परिवार बनाने की बात कहता हूं, तब उसमें से स्वामित्व का अधिकार निकाल कर गांव-परिवार को केवल स्नेह के आधार पर खडा करने को कहता हूं,

जिससे गांव में झगडे न रहें। मतलब यह कि अधिकार के कारण बंधुत्व की कल्पना अधूरी है। बंधुत्व बंधनसूचक है, मोचन-सूचक नहीं। इसलिए मैंने कहा कि **"बंधमुक्त बंधुमंडल होना चाहिए।"** हम भाई-भाई के समान वरतें, ऐसी बात कह कर वेद ने बताया है – **अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते। सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।** भाइयों में तो ज्येष्ठ-कनिष्ठ होता है, लेकिन मित्रों में ऐसा भेद नहीं होता। हम ऐसे भाई बनें, जिनमें कोई ज्येष्ठ नहीं; कोई कनिष्ठ नहीं। जहां ज्येष्ठ-कनिष्ठ भेद आता है, वहां अधिकार और झगडे आ जाते हैं।

इसलिए सर्वोत्तम शब्द है, मित्रमंडल और सर्वश्रेष्ठ नाता है, मैत्री का। उसमें मुक्त स्नेह है। मित्र शब्द में अतीव पवित्रता, मंगलता, स्नेह है। इसलिए वेद में कहा गया है –

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे

जगत मेरी ओर मित्र की दृष्टि से देखे और मैं मित्र की दृष्टि से सब जगत की ओर देखता हूं।

हमारे जीवन में 'मैत्री' ही मुख्य चीज है। हम तो इस युग को सख्य-भक्ति का युग ही मानते हैं, जहां परस्पर मैत्री का नाता ही मुख्य नाता रहेगा। विज्ञान-युग में हमें सख्य-भक्ति का विकास करना है।

इसलिए आगे का युग नेतृत्व का नहीं, गणसेवकत्व का युग है। सारे समाज का चित्त ऊंचा उठाना होगा। भले वह उतना ऊपर न उठे, जितना किसी व्यक्ति का उठा था, फिर भी उसकी शक्ति

ज्यादा होगी। अगर समान प्रेरणावाला समूह सामूहिक चित्त ऊपर उठाने का कार्य करेगा तो आसान होगा। इसमें अगर श्रद्धा होगी तो आगे अनुभव आ सकेगा। इसलिए हमने जनशक्ति खडी करने की बात कही है। हमारे लिए जनता ही जनार्दन है। वही है तीसरी शक्ति! इसी लिए हमने दो शब्द दिये – **तंत्रमुक्ति और निधिमुक्ति**। क्रांतिकार्य किसी तंत्र द्वारा नहीं, लोकसमुदाय के द्वारा ही हो। आखिर **क्रांति करने की चीज ही नहीं, बल्कि वह तो होती है**। करना होता है, प्रचार, परिचय और सेवा-कार्य, लोगों को समझाने का कार्य, जो क्रांति का साधन है। वह भी सत्ता या संगठन के जरिये नहीं, सेवकों के द्वारा ही हो। इसके अलावा जो रचनात्मक कार्य है, वह मुख्यतः करवाना ज्यादा है, करना कम है। यह क्रांति-विवेक है।

विश्व में प्रचलित विविध वाद

आज दुनिया में कशमकश हो रही है और दुनिया मसलों का हल निकालने की तलाश में है। बहुमत और अल्पमत के झगडे चल रहे हैं और वादों के झगडे भी चल रहे हैं। आज दुनियाभर में मुख्यतः तीन विचार-प्रवाह चल रहे हैं, जिनके आधार पर विविध प्रकार की समाज-रचनाओं की परिकल्पनाएं खडी होती हैं।

पहला है, 'फासिस्टवाद' और 'नाजीवाद'। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। एक जर्मनी में पैदा हुआ और दूसरा इटली में। वह किसी न किसी रूप में सारे संसार में है। हमारे हिंदुस्तान में भी है। यह वाद पूंजीवाद से मिलता-जुलता है।

दूसरा, साम्यवाद है। उसी के अंतर्गत समाजवाद आदि हैं। यह वाद रूस में चल पडा और फिर दुनियाभर में फैला।

तीसरा विचार-प्रवाह है सर्वोदय का, जो 'गांधी-विचार' के नाम से पहचाना जाता है।

ऐसा कोई भी वाद नहीं, जिसमें एक न एक गुण न हो। यदि किसी वाद के गुण-दोषों का पृथक्करण न किया जाये, तो दोषों से भरा वाद भी पनपता है। इसलिए हरएक वाद में जो गुण हों, उन्हें जान लेना चाहिए। अगर हम किसी भ्रांत वाद का भी गुण अपना लें, तो फिर उस वाद में स्थायी रहने लायक कुछ नहीं बचता।

इन सब वादों की प्रगति हमारे सामने है। उनका तटस्थ भाव से खूब अध्ययन करें।

नाजीवाद : नाजीवाद एक प्रकार के पूर्व अभिमान पर स्थित है। "हम जर्मन लोग श्रेष्ठ हैं, हमारे इतिहास में भव्यता है, इसलिए कालात्मा ने हमें अपनी पुरानी संस्कृति का रक्षण और पोषण का कर्तव्य सौंपा है। हमें शुद्ध रक्तवीज के जर्मन लोगों का ही वंश बढाना चाहिए" – इत्यादि। संस्कृति की परंपरा अविच्छिन्न रखने के लिए अपने पूर्वजों की संस्कृति के प्रति प्रेमादर रखना, यह नाजीवाद का वास्तविक ग्राह्यांश है, परंतु उसमें जो वंशाभिमान है, वह रक्षण करने जैसी वस्तु नहीं है।

पूंजीवाद – फिर पूंजीवाद है। पूंजीवाद क्षमता का हामी है। उसका कहना है कि कुछ लोगों में योग्यता कम है, इसलिए उन्हें कम मिलना चाहिए। वह योग्यता के अनुसार पारिश्रमिक दे कर समाज में क्षमता लाना चाहता है। उससे कुछ लोगों का जीवन

ऊंचे स्तर तक चला गया है, लेकिन बहुत सारे लोगों का जीवन बिलकुल खाई में गिर गया है। उनके हिसाब से जो नालायक हैं, वे नालायक बने रहें, और कोई चारा नहीं। और जो लायक हैं, वे ही दुनिया के सुख-साधनों से लाभ उठायें। ऐसा वाद आज नहीं तो कल अवश्य टूटनेवाला है।

साम्यवाद – इससे ठीक विपरीत विचार साम्यवाद का है। गरीबों के पेट की खाई गहरी होते-होते प्रशांत महासागर के बराबर और श्रीमानों के धन की पहाडी ऊंची होते-होते हिमालय के सदृश बन गयी। यह अंतर असह्य होने के कारण साम्यवाद पैदा हुआ।

साम्यवाद का कहना है कि आज की सिर गिनने की लोकसत्ता सच्ची लोकसत्ता नहीं है। इसमें गरीबों के सिर श्रीमानों के हाथ रहते हैं, इसलिए श्रीमंतों का जब तक नाश नहीं होगा, तब तक किसी को मतदान का समान अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार साम्यवाद में गरीबों के प्रति पराकाष्ठा की तडपन यह गुण है।

उनका मानना है कि वर्ग संघर्ष के बिना और जिनके हाथ में सत्ता है उन्हें खतम किये बिना चारा नहीं। उतनी हिंसा लाजिमी और धर्मरूप है। जाहिर है कि इस विचार से भी दुनिया में शांति नहीं होगी, क्योंकि हिंसा से प्रतिहिंसा का ही निर्माण होता है, भले ही थोडी देर वह सिर दबा कर बैठे। उलटे, उसके कारण मानवता का मूल्य और प्रतिष्ठा घट जाती है।

आखिरी लडाई सर्वोदय और साम्यवाद में –

इस तरह कहने के लिए ये तीन-चार वाद हैं, परंतु वास्तव में दो ही विचार आमने-सामने हैं। एक सर्वोदय और दूसरा साम्यवाद। बाकी के जो विचार हैं, वे विचार नहीं, कल्पनाएं और भावनाएं हैं, जो पुराने खयालों पर चलती हैं, इसलिए सीमित हैं। विचार के तौर पर ये दो ही विचार रह जाते हैं, जिनमें कुछ समान अंश हैं। दोनों में गरीबों के लिए कुछ करने का दावा है। लेकिन साम्यवाद में पुराने जमाने से जो हृदय बना है, उसका आदर नहीं है। कुछ लोगों के दिल और दिमाग भी पुराने होते हैं। साम्यवादी का दिमाग अद्यतन है, परंतु दिल पुराने जमाने से कटा है। वास्तव में पुरानी सभ्यता से सटा हुआ दिल और आधुनिक जमाने से सटा हुआ दिमाग, ऐसा दुहरा योग, जिसको मैंने आत्मज्ञान और विज्ञान का मेल कहा है, वह जिस विचार में होगा, वही आज के जमाने का मुख्य विचार होगा।

सर्वोदय की एक विचारधारा है, जिसमें शक्ति और सत्त्व है। यह विचार गांधीजी के द्वारा प्रस्तुत हुआ, परंतु वह विचार भारतीय संस्कृति का विचार है।

हम कहते हैं कि इस युग में लडाई केवल इन दो विचारधाराओं के ही बीच रहेगी। ये दोनों विचार आमने-सामने खडे हैं। वे एक-दूसरे के मित्र भी हैं और दुश्मन भी हैं। संस्कृत में भाई को 'सापत्न' कहते हैं। माताएं अलग-अलग लेकिन पिता एक, ऐसी संतान जैसा यह बहुत नजदीक का संबंध है। सापत्न यानी शत्रु भी होता है। सर्वोदय और साम्यवाद सापत्न हैं। दोनों करुणा से

प्रेरित हैं, लेकिन साम्यवाद प्रतिक्रियात्मक है, सर्वोदय विचारधारा स्वयंभू है, वह किसी की प्रतिक्रिया स्वरूप नहीं आयी है।

पिछले सौ दो-सौ वर्षों के मनुष्य-समाज के जीवन को यदि छाना जाये तो दो नाम हाथ आते हैं, महात्मा गांधी और महामुनि मार्क्स। मार्क्स के पेट में लेनिन और गांधीजी के पीछे टॉल्स्टॉय की छाया गृहीत ही है। आज साम्यवाद और सर्वोदय, ये दो विचार-प्रवाह एक-दूसरे को आत्मसात् करने के लिए आमने-सामने खड़े हैं।

सर्वोदय विचार-धारा हिंदुस्तान की मुख्य पूर्वपरंपरा में से पैदा हुई है। इस प्रकार उसमें नाजीवाद का गुण समाया हुआ है। हिंदुस्तान की परंपरा एक विशाल वटवृक्ष की परंपरा है। वह हिंदू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, बौद्ध, जैन, इन सबके महान शास्त्रकारों और असंख्य साधु-संतों की परंपरा है। अगर यह परंपरा छूटे तो राष्ट्र-तेज का क्षय होगा, इस विषय में मुझे तनिक भी संदेह नहीं है। इस अर्थ में नाजीवाद का पूर्व संस्कृति की परंपरा रखने का गुण रूपांतर सर्वोदय में है। लेकिन उसमें नाजीवाद का वंशाभिमान का दोष नहीं है।

गरीबों का उद्धार होना चाहिए, गरीबी मिटनी चाहिए, गरीबों के प्रति करुणा, यह साम्यवाद का सारभूत अंश है, वह भी सर्वोदय में है।

साम्यवाद की प्रक्रिया में हिंसा द्वारा क्रांति की जो बात है, वह उसका निःसार अंश है। हिंसा की शक्ति जनता की शक्ति नहीं हो सकती। जैसे विद्वत्ता आम जनता की नहीं, मुट्ठीभर पंडितों की

शक्ति है। वैसे तलवार भी आम जनता की शक्ति नहीं है। वह तो चौतीस इंच छातीवाले तगडे प्राणियों की (अर्थात् फौज के लायक लोगों की) शक्ति है। फिर हिंसा की शक्ति को सम्हालने के लिए निरंतर हिंसा ही करनी पडेगी, इसलिए भी वह आम जनता की शक्ति नहीं हो सकती। जबकि प्रेम और अहिंसा जनता की शक्ति हो सकती है। आज तक व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा के आधार पर विजय पाने के उदाहरण एकनाथमहाराज, ईसामसीह, सुकरात आदि के हैं। अब इस प्रयोगशाला के व्यक्तिगत प्रयोगों का सामाजिक विनियोग करना है। प्रयोगशाला की प्रथम शोध करनेवालों में अद्भुतता और अलौकिकता होना जरूरी है, लेकिन उसके सामाजिक अमल के लिए अलौकिकता जरूरी नहीं है।

हिंसा-अहिंसा : मृत-जीवित का फर्क

एकवार चर्चा हो रही थी कि गांधीवाद और साम्यवाद में केवल अहिसा का ही फरक है। तब मैंने कहा, दो आदमी नाक, कान, आंख की दृष्टि से बिलकुल एक-से थे। एक की जगह दूसरे को बैठाया जाये उतने दोनों समान थे। परंतु दोनों में फरक इतना ही था कि एक की नाक में से सांस चल रही थी, तो दूसरे की सांस बंद हो गयी थी। परिणाम यह हुआ कि एक के लिए भोजन की तैयारी हो रही थी, तो दूसरे के लिए शवयात्रा की। अहिंसा का

होना या न होना यह बात छोड देने पर बची हुई समानता इसी तरह की है ।

कुछ लोगों का खयाल है कि सत्य की कसौटी पर अपने उद्देश्यों को कस लें तो बस है । फिर साधन कैसे भी हों, चल जायेगा । लेकिन गांधीजी ने इस विचार का हमेशा विरोध किया है। उन्होंने तो यहां तक कह दिया था कि 'मैं सत्य के लिए स्वराज्य को भी छोडने को तैयार हो जाऊंगा ।' इसका मतलब यह नहीं कि वे स्वराज्य नहीं चाहते थे या उसकी कीमत कम समझते थे । लेकिन उनके मन में साधनशुद्धि का महत्त्व था । वे कहते थे कि शुद्ध साधनों से प्राप्त किया गया स्वराज्य ही सच्चा स्वराज्य होगा । साधक को साध्य की अपेक्षा साधन के बारे में ही अधिक सोचना चाहिए । साधन की जहां पराकाष्ठा होती है, वहीं साध्य का दर्शन होता है, इसलिए साध्य-साधन भेद भी काल्पनिक है । साध्य का रूप ही साधन पर निर्भर है । इसलिए साध्य-साधन में विसंगति नहीं होनी चाहिए । इस विचार का प्रयोग जिस बडे पैमाने पर गांधीजी ने हिंदुस्तान में किया, वह बेमिसाल है ।

साम्यवाद मनुष्य-मनुष्य में फर्क करता है. वर्ग-संघर्ष को मानता है, आत्मा की एकता को नहीं मानता । जबकि सर्वोदय विचार या साम्ययोग का मानना है कि हरएक मानव में एक ही आत्मा समानरूप से विद्यमान है । साम्ययोग मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करता । यही नहीं, मानवात्मा और प्राणिमात्र की आत्मा में भी बुनियादी भेद नहीं मानता । इतना ही फर्क दोनों में मानता है कि मानव की आत्मा में जो विकास संभव है, वह दूसरे प्राणियों की

आत्मा में नहीं है। मानवों में भी सबका विकास समान नहीं होता, यद्यपि शिक्षण से वह संभव है। लेकिन मानवेतर प्राणियों की आत्मा में शिक्षण के बावजूद विकास संभव नहीं। फिर भी चूंकि सृष्टिमात्र में एक आत्मा का अधिष्ठान है, इसलिए जहां तक हो सके, हमें प्राणिमात्र की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा साम्ययोग का मानना है।

जीवन में संघर्ष जरूरी है, परंतु संघर्ष का आरंभ प्रथम अपने से हो। पूंजीवाद के सामने संघर्ष करना है तो सबसे बडा पूंजीवादी मेरा अपना शरीर ही है। मेरे शरीर के सामने मुझे संघर्ष खडा करना होगा। जीवन में मंथन, संघर्ष जरूरी है। परंतु हम ऐसे साधनों का उपयोग न करें, जिससे समाज में क्षोभ हो। क्षोभ हुए बिना जो परिवर्तन हो सकता है, उसी को शुद्ध परिवर्तन माना जाये। मतलब कि विचारविमर्श द्वारा ही परिवर्तन हो, यह विज्ञान-युग की मांग है। साधनशुद्धि यानी वही साधन शुद्ध है जिससे मन में क्षोभ पैदा न हो। हमारी कोई 'न्यूसेन्स व्हॅल्यू' (पीडामूल्य) हम सिद्ध न करें।

संघर्ष नहीं, सहयोग

परंतु हितविरोध के सिद्धांत के कारण 'संघर्ष' का एक नया शास्त्र निकला। संघर्षवादी लोग कहते हैं कि मनुष्य को अपने हित के लिए संघर्ष करना पडेगा। सृष्टि के साथ भी संघर्ष और परस्पर संघर्ष होगा, तब कुछ व्यवस्था होगी और फिर नवनिर्माण,

समृद्धि और प्राचुर्य होगा । पहले मानवों के बीच का संघर्ष होगा, फिर सृष्टि के साथ ।

यह बिलकुल गलत विचार है । माता बच्चे को प्रेम से स्तनपान कराती हो और बच्चा चाव से दूध पीता हो और कोई कहे कि बच्चा स्तन से संघर्ष कर रहा है तो इस कल्पना में हम कोई अक्ल नहीं देखते । सृष्टि में से हम पोषण पाते हैं, हमें उसकी सेवा करनी चाहिए । संघर्षवादी इसे 'संघर्ष' कहते हैं । यह शब्द-भेद नहीं, विचार-भेद है । हमें संघर्ष नहीं, मंथन चाहिए । दो लकडियों को घिसने से अग्नि पैदा होती है और दोनों को भस्म कर सकती है, वैसे ही संघर्ष का परिणाम विनाश में होता है । लेकिन मंथन से तो मक्खन पैदा होता है । हम 'स्टेटस्को' वादी – 'जैसे थे' वादी हरगिज नहीं हैं, परंतु हम संघर्षवादी भी नहीं हैं, हम मंथनकारी हैं । हम सहयोग की शक्ति खडी करना चाहते हैं । सत्य और प्रेम, दोनों को इकट्ठा रख कर हम सत्याग्रही शक्ति पैदा करना चाहते हैं ।

साम्यवादी विचार-धारा में समाज के विभिन्न वर्ग किये गये हैं । माना गया है कि गरीब और अमीर इन दो वर्गों का परस्पर हित-विरोध है, इसलिए गरीबी मिटाने के लिए गरीबों को संघर्ष करना पडेगा और अमीरों को खत्म कर के गरीबी दूर करनी होगी । परंतु साम्ययोगी समाज में – हमें न वर्ग चाहिए, न वर्ग-संघर्ष । वर्ग खडे होते हैं हित-संघर्ष के आधार पर । मालिक विरुद्ध मजदूर, शहरवाले विरुद्ध देहातवाले, स्त्री विरुद्ध पुरुष, अब आगे जा कर बाप विरुद्ध बेटा संघ होगा क्या ? हमें वर्ग-संघर्ष नहीं, वर्ग-निर्मूलन ही करना है । सारी नदियां समुद्र में मिल जाती

हैं, वैसे विविध हितों का सामंजस्य करना होगा। हमारे साम्ययोगी समाज में न कोई गरीब न कोई अमीर। समाज में केवल एक ही वर्ग होगा। आजकल कहते हैं समाज में दो वर्ग हैं – 'हॅव्ज्' और 'हॅव्ज् नॉट', 'है वाले और 'नहीं है वाले'। हम कहते हैं कि समाज में सब कोई हॅव्ज्वाले ही हैं। इस पृथ्वी पर कोई ऐसा अभागा नहीं जन्मा, जिसके पास कुछ न हो। किसी के पास श्रमशक्ति, तो किसी के पास बुद्धि तो किसी के पास संपत्ति आदि है। इनमें से कुछ भी न हो तो भी प्रेम करने की शक्ति तो सबमें है ही। इसलिए जिस किसी के पास जो कुछ है, वह दूसरों को देना है।

साम्ययोगी समाज में अमीरी-गरीबी दूर करने के लिए न अमीरों को मारना है, न गरीबों को। अमीर-गरीब दोनों को बचा कर अमीरी-गरीबी खत्म कर के साम्य की स्थापना करनी है।

सत्य-अहिंसा का सूक्ष्म विचार

अहिंसा की प्रक्रिया हृदय-परिवर्तन पर आधार रखती है। हृदय-परिवर्तन की अपनी एक पद्धति है। मनुष्य कभी-कभी जानता भी नहीं कि उसका हृदय-परिवर्तन हो रहा है। वह प्रक्रिया ही ऐसी है। हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया सबके लिए लागू है। हमसे भिन्न विचार रखनेवालों के लिए ही नहीं बल्कि हमारे खुदके लिए भी लागू है।

इसलिए मतभेद पर अधिक जोर न देते हुए मतैक्य पर हम जोर दें। कोई मनुष्य यदि कहता है कि "मैं ब्रह्म हूं", तो कहने पर

से तो वह ब्रह्म नहीं हो जाता। फिर भी किसी को जब चाहना सूझा तो उसके कहने में सत्य भी आता है। यह उपासना की पद्धति है। इसलिए सत्य पर गलत जोर नहीं देना चाहिए। यह विश्वास रखें कि सत्य जब हम पहचानते हैं, तो वह कभी छिपेगा नहीं, वह खुलता ही रहेगा। बिना बुद्धि खुले सत्य नहीं खुलता। हम वाणी से किसी को कितना ही समझायें, परंतु जब तक बुद्धि नहीं खुलती, सत्य खुलता नहीं। इसलिए अपने मन में सत्य को समझ कर सामनेवालों के लिए उतना ही खोले जितना वह ग्रहण करता जाये। यह प्रक्रिया अहिंसा के लिए अधिक अनुकूल है। सत्य के लिए भी उसमें बाधा नहीं है, बल्कि अनुकूलता है।

कहा गया है कि 'एग्री वीथ दाय एडवर्सरी क्विक्ली', तुम्हारे विरोधी के साथ एकदम एकमत हो जाओ। यह एक प्रक्रिया है उपहार की, सत्यग्रहण की, प्रतिकार की नहीं, सामनेवाले के सम्यक् चिंतन में सहयोग की। इस दिशा में हमें संशोधन करना है।

हम विश्व को खंडित करना नहीं चाहते हैं। न देश की भावना से, न जाति की, न धर्म की, न भाषा या हित-विरोध संबंधों की भावना से। हम तो जीवन को अखंड ही बनाना चाहते हैं। इसी लिए हम कहते है कि हमारा विचार किसी विचार की प्रतिक्रिया नहीं है। कारुण्यमूलक साम्य की प्रक्रिया द्वारा दुनिया को इसका दर्शन कराना होगा कि यह विचार दुनिया को जोडेगा, दुनिया के दुःखों का निरसन करेगा और राजसत्ता का विलयन करेगा।

साम्ययोग आत्मा की एकता को मानता है। इतना ही नहीं उसके आधार पर वह गहराई में भी जाना चाहता है। इसलिए

साम्ययोग जीवन की अनेक शाखाओं में प्रवेश करता है। नैतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक जैसे सभी क्षेत्रों में साम्ययोग द्वारा क्रांतिकारी परिणाम होते हैं।

साम्ययोग का आधार ही है– **अनुराग और विश्वास**। यह साम्य **योग** है। योग साधना की चीज है। हमें साम्य की साधना करनी पडेगी। हमें प्रेम प्रकट करना होगा। जनशक्ति के प्रेम के साधन द्वारा समाज में अभेद खडा करें, यह है साम्ययोग। विश्वास की शक्ति का भी आज तक व्यक्तिगत जीवन में अनुभव आया है, सामाजिक जीवन में उसका विनियोग कम हुआ है। राजकीय जीवन में तो उसके विरोधी, 'संदेह' को ही स्थान है। वास्तव में विश्वास एक बहुत बडी शक्ति है। विश्वास शब्द 'श्वस्' पर से बना है। व्यक्तिगत जीवन में 'श्वास' का जो स्थान है, वही सामाजिक जीवन में 'विश्वास' का है। श्वास न रहा तो व्यक्ति मर जायेगा। वैसे ही सामाजिक जीवन में 'विश्वास' न रहा तो समाज मृतप्राय हो जायेगा। **विश्वास यानी विस्तृत, व्यापक श्वास, कुल जनता का श्वास।**

साम्ययोग : वीर और संत, दोनों प्रवाहों का संगम

आज तक भारत के इतिहास में दो बडे प्रवाह चले। समाज-व्यवस्था की जिम्मेवारी उठानेवाले कुछ लोग **वीर-परंपरा** में हुए, तो समाज में चित्तशुद्धि का विचार फैला कर सामाजिक क्रांति लानेवाले कुछ लोग **संत-परंपरा** में हुए। समाज-रक्षा का जिम्मेवार एक क्षेत्र हुआ, उसकी अधिष्ठात्री बनी शक्ति-देवता और इस देवी

की उपासना करनेवाले थे वीर पुरुष और समाज को सुधारने-वाली दूसरी देवी है - कारुण्यमूर्ति। अहिंसा-करुणा की उपासना करनेवाले हैं संत। रक्षण के लिए शक्ति-उपासना और समाज-शुद्धि के लिए करुणा की उपासना। शुद्धि और शक्ति, दोनों देवताओं की उपासना में कुछ न कुछ विरोध आता है। इसलिए एकाग्र उपासकों के द्वारा दोनों देवताओं की आराधना नहीं हो सकती, परिणामतः दो प्रकार चले। उधर अकबर, शिवाजी मार्ग तो इधर कबीर, शंकराचार्य मार्ग। अकबर शंकर नहीं हो सकता और कबीर शिवाजी नहीं हो सकता।

इन दो उपासनाओं में विरोध है। उस विरोध को पचा कर उपासना करनेवाले मुहम्मद पैगंबर, मध्वाचार्य, बसव जैसे लोग निकल जाते हैं। परंतु दोनों को पचा लेना एक बात है और दोनों का विरोध ही मिटा देना अलग बात है। साम्ययोग-विचार में वीर और संत का भेद मिट जाता है। वीर ही संत और संत ही वीर बनता है। समाज को धारण करनेवाला ही क्रांति करता है और समाज में क्रांति करनेवाला ही समाज को धारण करता है। सर्वोदय में विचारों का समन्वय होता है. जिससे समग्रता आ जाती है।

सर्वोदय विचार में रक्षा के लिए चामुंडा और करुणा के लिए विष्णु, इस प्रकार दो देवता नहीं रहते। उसमें एक ही देवता है, जो रक्षण भी करता है, शुद्धि भी करता है। वही करुणा का रूप लेता है, वही रक्षणकारिणी शक्ति बनता है। दोनों एक में समाये हुए हैं। इसका नाम है समन्वय। समन्वय से समाज में समरसता आती है, गुणविभाजन नहीं होता। चंद लोगों के लिए अमुक गुण

और चंद लोगों के लिए दूसरे गुण, ऐसा साम्ययोगी समाज में नहीं होता। जैसे माना गया कि क्षत्रिय वर्ग का धर्म है बचाव के लिए हिंसा करना। ब्राह्मण का धर्म है रक्षण के लिए भी हिंसा न करना। गृहस्थ का धर्म है, समाज-जीवन के लिए परिग्रह करना और संन्यासी का धर्म है, पूर्ण अपरिग्रह की उपासना करना। इस तरह परस्पर-विरोधी गुणों की विभाजित योजना करनी पडती है। एक के लिए जो दोष, वही दूसरे के लिए गुण है। इस प्रकार तो समाज के दो टुकडे होते हैं। गुणों का विभाजन होता है तो कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं बनता। समाज भी पूर्ण नहीं बनता। समाज के अंतरंग में विरोध कायम रहता है। दर्जे भी बनते हैं। परिणामस्वरूप संघर्ष होता है।

सत्याग्रह-विचार अखंड

लोग प्रेम और ज्ञान की महिमा जानते हैं, लेकिन प्रेम और ज्ञान रक्षण कर सकेगा ऐसा विश्वास पैदा नहीं हुआ। इसलिए रक्षण के लिए सेना-विभाग और ज्ञान के लिए शिक्षा-विभाग, दोनों चाहिए। सुधार के लिए शिक्षा-विभाग, दंड के लिए सेना-विभाग। कुछ महान लोग विरोध के बावजूद इन दोनों को जीवन में एकत्रित करते हैं। पुराना शिक्षक एक हाथ में किताब और दूसरे हाथ में डंडा रखता था, परंतु इससे विरोध मिटता नहीं। सिलाई हो जाती है, परंतु एक अखंड वस्तु बनती नहीं। ताना-बाना बुन कर जो अखंड वस्त्र बनता है वह एक चीज है और

कपडे के दो कटे टुकडे सी कर एक करते हैं, वह दूसरी चीज है। पुराने लोगों को सीने की कला आयी। परंतु वुन कर अखंड वस्त्र वनाने की कला नहीं आयी।

सर्वोदय में सत्याग्रह का जो दर्शन हुआ, उसके परिणामस्वरूप सिलाई मिट गयी और ताना-वाना एकरूप हो कर अखंड वस्त्र वन गया। सत्याग्रह में संत और वीर दोनों एक हो जाते हैं, दोनों एक-दूसरे में वुने जाते हैं, सीये नहीं जाते। यह सत्याग्रह की खूवी है। यह अपने देश की चीज है, लंवे अनुभवों का परिणाम है। इसका थोडा दर्शन गांधीजी के कारण हुआ। इस शक्ति को हमें विकसित करना है। सर्वोदय में अहिंसा को ही शक्तिरूपिणी देवता समझ कर उसकी उपासना करनी है। वही वचाव करेगी, वही पालन करेगी, वही प्रेम करेगी।

साम्ययोग में यह कीमिया है कि वह परस्पर विरोधी तत्त्वों का विरोध मिटा कर सवको एकरस वना देता है। गौडपादाचार्य ने एक प्रसिद्ध श्लोक में यही कहा है– **परस्परं निरुध्यन्ते तैर्यं न निरुध्यते**। वे लोग परस्पर विरोध करते हैं, लेकिन मेरे साथ उन दोनों में से किसी का कोई विरोध नहीं। सर्वोदय में जीवन के विरोध ही खत्म करने की वात है। हमारी अविरोव की उपासना है। **सर्वेषां अविरोधेन** – यह साम्ययोग का सूत्र है। हम कहना चाहते हैं कि यह चीज सारी दुनिया के लिए तो लाभदायी ही है, लेकिन भारत के लिए तो अत्यंत वचाव करनेवाली चीज है। हमारे इस विशाल देश में जहां अनेकविध भेद हैं, वहां अगर अविरोध और समन्वय की शक्ति न सधी तो देश के टुकडे-टुकडे हो जायेंगे। हमें तोडने का नहीं, जोडने का काम करना है।

भूदान : अन्याय के मूल का निवारण

आज की जो समाज-रचना है, उसमें अन्याय निहित है। जब तक समाज की यह रचना न बदलेगी, तब तक उसमें जो 'इन्हेरेण्ट' (स्वभावगत) दोष हैं, उनको सहन करना होता है। वरना उसके दोषों को देखते चलेंगे और जितने तत्कालीन अन्याय सामने आते हैं, उनके सामने लडते रहेंगे तो वह पत्तों को तोडने जैसा होगा। हमें मूलग्राही काम करना है। अन्याय के मूल का निवारण करना है, वह जब तक नहीं होता, तब तक अन्य अन्याय सहन करने होते हैं। जैसे, हम एक बहुत बडे अन्याय के खिलाफ लड रहे हैं। उसी में हमारा चिंतनसर्वस्व और पूरी शक्ति लगानी है। भारत के भूमिहीन मजदूरों पर जो अन्याय हो रहे हैं, उनको भूमिदान दिलवा कर हम उनका एक अन्याय मिटाना चाहते हैं।

परंतु हमारी पद्धति प्रतिकार की या संघर्ष की नहीं है। इसलिए कोई यह न माने कि हम अन्याय के खिलाफ लडते नहीं हैं। हमें अन्याय दूर करना है, मनुष्य के हृदय में पडे सत्-तत्त्वों को जगा कर हम शोषण-रहित समाज बनाना चाहते हैं, इसके लिए यह भूदान-यज्ञ है। इस यज्ञ में किसी का किसी के साथ कोई संघर्ष नहीं। इसमें सबको आहुति देनी है। जिसके पास जो कुछ है, वह देना है। बुद्धिदान, संपत्तिदान, भूमिदान, श्रमदान, कुछ भी न हो तो प्रेमदान! प्रेम तो हर कोई दे सकता है। इस तरह हरएक को इस यज्ञ में अपनी आहुति देनी है। इसी लिए तो हमने इसको **प्रजासूय-यज्ञ** नाम दिया है। इसमें संघर्ष नहीं, सहयोग; प्रतिकार नहीं, उपहार की अपेक्षा है।

शासनमुक्त समाज की ओर

शक्ति का अधिष्ठान आत्मा है। दूसरे कहीं भी शक्ति का स्रोत नहीं है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान आत्मा है। बाहर जो शक्ति प्रकट होती है, उसका अनुसंधान अंदर की आत्मशक्ति के साथ है। इस आत्मशक्ति का जब भान होता है, तब मनुष्य का भय चला जाता है, किसी भी प्रकार का मोह या आसक्ति नहीं रह जाती। उससे सर्वथा शासनमुक्ति सिद्ध होती है। सब प्रकार की आजादी महसूस होती है। अपने पर किसी का, किसी भी प्रकार का शासन नहीं चलता; न वासना, विकार या किसी विचारधारा का हो। वहां पूर्ण शासनमुक्ति होती है। इसी लिए कहा गया – आत्मशक्तेर्भानात् ततः शासनमुक्तिः – जब आत्मशक्ति का भान होता है तब शासन-मुक्ति होती है।

*

- स्वराज्य के लिए यत्न करें
- विविध राज्यपद्धतियां
- वर्तमान लोकतंत्र : स्वरूप और मर्यादा
- राजनीति नहीं, लोकनीति : सुशासन नहीं स्वशासन
- सत्ता नहीं, शक्ति चाहिए
- आज सत्याग्रह में भी संशोधन आवश्यक
- सम्यक् चिंतन में सहयोग, सौम्य प्रक्रिया
- शासनमुक्त समाज-रचना

स्वराज्य के लिए यत्न करें

आखिर के दो-ढाई हजार सालों का इतिहास देखते हैं तो केवल अशोक के जमाने में सारा भारत एक छत्रछाया में था। हजारों वर्षों के बाद हिंदुस्तान को एक अवसर मिल रहा है। यह पहला ही अवसर है जबकि सारे हिंदुस्तान में एकराज्य चल रहा है। खुशी की बात यह भी है कि आजकल किसी राजा का राज्य नहीं है, बल्कि यह एक लोकराज्य है। परंतु आज का यह लोकराज्य केवल कानून के ख्याल से एक औपचारिक लोकराज्य है। अब हमको उसे वास्तविक लोकराज्य बनाना है।

मानव-समूहों की व्यवस्था के लिए आज दुनिया में दो प्रकार की संस्थाएं बहुत मजबूत हैं, धर्म-संस्था और शासन-संस्था। दोनों लोकसेवा के ख्याल से बनायी गयी थीं। परंतु आज उनके बारे में पुनर्विचार करने का समय आ गया है। शास्त्रों में लिखा है कि **राज्यांते नरकप्राप्तिः**। मतलब, राज्य कोई इच्छा करने जैसी चीज नहीं है।

'राज्य' एक बात है और 'स्वराज्य' दूसरी बात। राज्य हिंसा से प्राप्त किया जा सकता है; किंतु 'स्वराज्य' बिना अहिंसा के असंभव है। इसलिए जो विचारशील हैं, वे 'राज्य' को नहीं चाहते; बल्कि यह कह कर तड़पते रहते हैं कि 'आओ, हम सब स्वराज्य के लिए यत्न करें।' **न त्वहं कामये राज्यम्** – यह उनका निषेधक और **यतेमहि स्वराज्ये** – यह विधायक राजनैतिक उद्घोष होता है। 'स्वराज्य' वैदिक परिभाषा का एक शब्द है। उसकी व्याख्या

इस प्रकार की जाती है, स्वराज्य माने प्रत्येक व्यक्ति का राज्य, यानी ऐसा राज्य, जो प्रत्येक को 'अपना' लगे। अर्थात् सबका राज्य, दूसरे शब्द में 'रामराज्य'।

कितने सालों के बाद अपने समाज को बनाने का अवसर हमें प्राप्त हुआ है, तो इसे स्वराज्य की दिशा में ले जायें। अब धर्म और राजनीति, दोनों कालबाह्य हो गये हैं। धर्म के स्थान पर अध्यात्म और राजनीति के स्थान पर लोकनीति की स्थापना करनी है।

सबसे पहले हम यही देख लें कि राजनैतिक विचार तत्त्वत: कितने प्रकार के हो सकते हैं।

विविध राज्यपद्धतियां

आज तक राजपद्धति के कुल चार प्रकार चले। एक है, **एकायतन**; दूसरा है, **अल्पसंख्यायतन**, तीसरा है, **बहुसंख्यायतन**; और चौथा है, **सकलायतन**।

एकायतन यानी एक का राज्य। उसमें उत्तम या अत्यंत खराब ऐसे दो ही प्रकार का राज्य चल सकता है। अगर राम-राज्य रहा तो उत्तम, 'रावण-राज्य' रहा तो अधम।

अल्पसंख्यायतन यानी सरदारों की हुकूमत। सरदार आपस-आपस में लडते भी रहेंगे, इसलिए उस पद्धति में से कुछ निकलता नहीं। उसमें से केवल हिंसा फैली है।

बहुसंख्यायतन पद्धति यानी आज का लोकतंत्र जो इंग्लैंड के नमूने पर बनाया है। आजकल हमारे यहां चल रहा है, जिसे अंग्रेजी में **डेमाक्रसी** (लोकतंत्र) कहते हैं। यह भारत की पद्धति नहीं है। इंग्लैंड की परिस्थिति अलग है। वहां एक ही भाषा, धर्म के लोग हैं। इसलिए इस देश की जनता के लिए यह पद्धति बहुत अनुकूल नहीं है। इसमें अल्पमत-बहुमतवाली बात अत्यंत घातक है। मैंने तो इसे नाम ही दे दिया है – डेमोनाक्रसी (राक्षसशाही) ! दूसरे देशों की पद्धति से यहां की पद्धति भिन्न होगी। हमारे यहां सत्ता का विकेंद्रीकरण चाहिए।

हमने जो सर्वश्रेष्ठ पद्धति मानी है, वह है चौथी पद्धति – **सकलायतन**। भारत में वैदिक काल से संतों के जमाने तक गांव-गांव में 'पंच बोले परमेश्वर' की पद्धति मान्य की गयी थी। मतलब कि मुख्य सत्ता **समाज** की होनी चाहिए। सरकार सबका संयोजन – समन्वय करे, विदेश के साथ संबंध रखे, डाक-तार-रेल्वे आदि देश का व्यवहार चलाये, अलावा इसके कुछ बडे उद्योगधंधे भी सरकार के हाथ में रहें। लेकिन बाकी सब विकेंद्रित होना चाहिए।

सर्वोत्तम सत्ता का लक्षण तो यह है कि उसका विभाजन सार्वत्रिक होता है और केंद्रीय सत्ता के बारे में 'वह है भी या नहीं है,' ऐसा संदेह हो जाता है। उसके लिए आज का यह 'फॉर्मल डेमोक्रसी' – औपचारिक लोकतंत्र नहीं चलेगा, डेमोक्रसी का सब्स्टन्स – सत्त्व चाहिए, दिखावा नहीं। वर्तमान लोकतंत्र का शोधन कर के उसे हमारे देश के अनुकूल स्वरूप देना होगा।

वर्तमान लोकतंत्र : स्वरूप और मर्यादा

असमीया भाषा में राजकारण को 'राक्षसर शास्त्र' कहा है। वर्तमान लोकतंत्र में, जो बहुमती-लघुमती का राक्षस है, और जिस तरह चुनाव लड़ा जाता है, उसके कारण हमारे देश की बहुत हानि हुई है।

आज हमारे देश में जातिवाद का जितना उफान आया है, उतना पहले कभी नहीं था। राजा राममोहन राय से ले कर महात्मा गांधी तक सब लोगों ने जातिभेद पर इतने प्रहार किये कि वह बीच में टूट जाने की दिशा में था, परंतु इस चुनाव-पद्धति के कारण वह अपना सिर फिर से ऊंचा उठा रहा है। हमें जातिभेद का निरसन करना ही होगा। जाति के आधार पर जो चुनाव होते हैं, उससे देश टूटता है।

आज के लोकतंत्र में पक्षपद्धति है। उसके कारण सर्वत्र द्वेष का प्रसार होता है। 'आत्मस्तुति परनिंदा,' यह चुनाव का सूत्र है। सत्ताधारी और विरोधी, दोनों पक्षों का केंद्र केवल 'सत्ता' है। एक को सत्ता हाथ से छूट न जायें, इसकी चिंता है; दूसरे का कार्यक्रम ही यह है कि सत्ता मुहय्या कैसे हो। विरोधी पक्ष का एक ही काम है, विरोध करना, उसका 'करेक्टिव रोल (भूल सुधारना) नहीं बनता।

अलग विचार हैं, इसी लिए अलग पक्ष होते हैं। परंतु आज तो विचार को कुंठित करने के लिए ही पक्ष हैं। पक्ष की सभा में जो 'व्हीप' होता है, वह क्या है? विचार को रोकना ही है। व्हीप

चलेगा तब केवल हाथ ऊंचा करना है, वहां दिमाग का उपयोग ही नहीं करना है। यह सारा इतना यांत्रिक हो गया है कि प्रजा को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं। ऐसी परिस्थिति में पक्षमुक्ति अत्यंत आवश्यक है। सरकार को पक्षमुक्त और जनता को सरकार-मुक्त होना पडेगा। करेक्टिव (सुधार) के तौर पर समाज में निर्भय, निर्वैर और निष्पक्ष नैतिक शक्ति ही हो सकती है।

स्वराज्य-प्राप्ति के पहले रचनात्मक कार्य में लगे लोग सरकार की मदद की अपेक्षा नहीं करते थे, बल्कि एक प्रकार से उनका काम सरकार के विरुद्ध ही था। परंतु स्वराज्य के बाद इन कामों को सरकार की सहायता मिलती है तो रचनात्मक कार्य में तेज नहीं रहा, क्योंकि जनता के आधार की आवश्यकता कम होती चली।

आज सारे कार्य सरकार-आश्रित चल रहे हैं, यह बहुत बडा खतरा है। हमारी तालीम, हमारे रचनात्मक कार्य, हमारी साहित्यिक शक्ति, सब आज सरकार के हाथ में पंगु बनती जा रही हैं, परिणामतः ज्ञानी, शास्त्रज्ञ, साहित्यकार, कार्यकर्ता आदि की आजकल कोई शक्ति ही नहीं रह गयी है। आज जनता के विधायक रचनात्मक कार्यों को सरकार का आश्रय चाहिए, जब तक यह विचार-दोष समाज के दिल से नहीं जायेगा, तब तक हमारा काम सफल नहीं होगा। जनता में जब आत्मशक्ति का भान होगा, तभी सरकार का आश्रय छूटेगा। इस तरह जनता को सरकारमुक्त होना पड़ेगा।

आज जनसेवा तथा जनशक्ति पर विश्वास वहुत कम दीखता है। वास्तव में लोकजीवन की क्रांति राजसत्ता द्वारा हो ही नहीं सकती। अगर ऐसा होता तो वुद्धभगवान राजसत्ता क्यों छोडते? सम्राट अशोक का उदाहरण दिया जाता है, परंतु जब से धर्मकार्य में राजसत्ता ने दखल देना शुरू किया, बौद्धधर्म हिंदुस्तान से उखडना शुरू हुआ। वैसे ही कान्स्टेन्टाईन के बाद ईसाई धर्म को राजसत्ता का आधार मिला, तब से ईसाई धर्म नाममात्र का रहा। अनुभव रहा है कि जब से राजसत्ता धर्म के साथ जुडी, तब से धर्म की अत्यंत हानि हुई।

स्वराज्य के वाद जनता अधिक पराधीन वृत्ति की हो गयी है। सब चीजों में उसको लगता है कि सरकार ही करेगी। उनके लिए सरकार ही 'सर्व कार' है। यह वृत्ति दुनियाभर में है। मैंने उसको 'दे इज्म' (वे वाद) नाम दिया है। मतलब 'दे विल डु फार अस' (वे हमारे लिए करेंगे), हमें केवल मत देना है। प्रत्येक को मताधिकार मिलता है, सत्ता का इतना विकेंद्रीकरण आज के लोकतंत्र में होता है। परंतु लोग मतदान दे कर सो जाते हैं। आज लोगों में यह विश्वास नहीं कि वे अपना कारोबार खुद संभालेंगे। ऐसी मनस्थिति में जनशक्ति निर्माण नहीं हो सकती।

आज हमारे देश में जो प्रातिनिधिक लोकतंत्र चलता है, वह पश्चिमी सभ्यता की देन है। नाम है उसका लोकतंत्र, परंतु आज तो इसमें से 'लोक' गायब है, केवल 'तंत्र' है। पांच साल में एक वार मतदान करने के वाद किसी को कोई जिम्मेवारी महसूस नहीं होती।

मैं लोकतंत्र के विरोध में नहीं हूं, मेरा मतभेद लोकतंत्र की वर्तमान प्रचलित पद्धति के साथ है।

इधर हम लोकतंत्र की वात करते हैं और उधर अर्थव्यवस्था भी पूंजीवादी रखते हैं। मुंह में लोकतंत्र, परंतु वगल में केंद्रीकरण तथा लश्कर! हमारा काम शीघ्र नहीं होता इसका कारण यह नहीं है कि देश में 'टोटेलिटेरियन' (सर्वाधिकारवाद) नहीं है। कारण यह है कि हमने लोकतंत्र को ठीक अर्थ में समझा नहीं है।

चाहे लोकतंत्र हो या तानाशाही, समाज का शोषण वढता ही रहे तो क्या लोग 'धन्य है लोकतंत्र! धन्य हैं हम!' कहते रहेंगे? स्वराज्य से पहले वकरा शेफिल्ड की छुरी से काटा जाता था, अव बकरे को विदेशी छुरे से नहीं, भारत की अलीगढ की छुरी से काटेंगे, उससे उस बकरे को संतोष होगा? उसमें गरीवों के लिए कुछ हो, तभी प्राण आयेगा। रोगी को किसी पैथी का नहीं, अपना रोग मिटे, यही आग्रह रहता है। इस प्रकार जनता को विशिष्ट राज्यपद्धति का नहीं, अच्छा काम हो, यही आग्रह रहता है।

अभी तक जितनी भी राज्यरचनाएं हुईं, उनमें लोकतंत्र सर्वोत्तम रचना है। परंतु इस लोकतंत्र में राज्य-रक्षण का आधार उसी सेना पर रखा है, जिसका आधार दूसरी-राज्यपद्धतियां लेती हैं। राजाशाही, सरंजामशाही, सामंतशाही, समाजवादी, पूंजीवादी आदि सभी सैन्यवल को राष्ट्र-रक्षण का साधन मानते है। यदि लोकतंत्र भी यही चीज माने तो दुःख की वात है।

आज सेना निर्भयता का नहीं, भय-प्रवर्तन करनेवाला साधन बन गयी है। बहुत सारे देश एक-दूसरे के डर के कारण ही सेना रखते हैं। सेना के पीछे हो रहे करोड़ों रुपये का खर्च यदि गरीबों की सेवा में करें, तो सारी दुनिया में एक नयी चेतना और नयी दृष्टि आयेगी। सारी दुनिया की विवेक-बुद्धि जागृत होगी, जिससे दुनिया की समस्याएं हल होने में आसानी होगी।

लोकतंत्र के तत्त्वज्ञान में सैन्य गौण होना चाहिए। यद्यपि तत्त्व के तौर पर सैन्य की इच्छा नहीं रखते और व्यावहारिक तौर पर ही सैन्य को मान्यता देते हैं, तो भी लोकतंत्र का रूपांतर तानाशाही में हो जाता है। इसलिए लोकतंत्र का आधार अहिंसा ही होना चाहिए।

स्वराज्य के बाद देश में कल्याणराज्य, वेलफेअर स्टेट की स्थापना हुई। मतलब यह कि अधिक से अधिक सत्ता कुछ लोगों के हाथ में हो, और लोगों का सारा जीवन वहीं से नियंत्रित हो। इससे सारा जनसमुदाय पराधीन हो जाता है।

हमने आज 'कल्याण राज' का स्वीकार किया है। परंतु सुख और कल्याण में फर्क है। समाज सुखी है इसलिए उसका कल्याण हुआ है ऐसा नहीं कह सकते। सुख के साथ गुणविकास होना चाहिए। गुण विकास वगैर की सुखवृद्धि देश के लिए अत्यंत अकल्याणकारक होगी। गुणविकास का कार्य सरकार नहीं कर सकती। सरकार भौतिक विकास कर सकती है, परंतु त्यागवृत्ति और परस्पर सहकार के कार्य जनता द्वारा होने चाहिए। इसलिए भी स्वतंत्र जनशक्ति की आवश्यकता है।

राजनीति नहीं, लोकनीति : सुशासन नहीं, स्वशासन

मेरा मूलभूत सवाल यही है कि पररक्षित राज्यपद्धति सच्चा लोकतंत्र है क्या ? **लोकतंत्र तो तभी सुरक्षित होगा जब समाज में हिंसा की विरोधी और सरकार से भिन्न ऐसी लोकशक्ति पैदा होगी।** ऐसी लोकशक्ति सरकार या पक्ष के द्वारा खडी नहीं हो सकती। यह शक्ति तो जनता में से ही खडी हो सकती है। इसमें जनता को अपने पर भरोसा, आत्मविश्वास होना चाहिए। कोई नेता या उद्धारक की राह देखते जनता बैठी रहेगी, तो जनशक्ति कभी पैदा नहीं होगी। प्रत्येक मनुष्य को स्वराज्य का अनुभव लेना होगा। जिसको स्वराज्य का अनुभव आयेगा, उसमें आत्मविश्वास जागेगा।

राज्यव्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, प्रत्यक्ष व्यवहार में उसकी उत्तमता किसी न किसी अंश में उन व्यक्तियों की योग्यता और सज्जनता पर ही आधृत है, जिन्हें समाज की ओर से शासन-सूत्र सौंपे गये हैं। साधारणतः अच्छे आदमी ही अचूक चुने जायें, ऐसी योजना करना उत्तम राज्यपद्धति का एक अंग और लक्षण है। लेकिन इसके बावजूद व्यक्तित्व का थोडा-बहुत भला-बुरा परिणाम राज्यव्यवस्था पर अवश्य होगा। राज्यशास्त्र शुद्ध गणित-शास्त्र तो क्या, व्यावहारिक गणितशास्त्र के समान भी नियमित नहीं है। शुद्ध गणितशास्त्र विचार-सृष्टि में और व्यावहारिक गणितशास्त्र भौतिक सृष्टि में विचरण करता है। लेकिन राज्य-शास्त्र का विस्तार उस मानव-सृष्टि में है, जो विचार और भौतिक सृष्टि से अलग है। इसलिए उसे मानव-निरपेक्ष केवल यांत्रिक रूप देना संभव नहीं। सेवाभाव, स्वावलंबन, अहिंसक सुरक्षा और

तुल्य पारिश्रमिक – इन चार खंभों पर राज्यपद्धति का भवन खडा करना चाहिए। राज्यपद्धति का स्थूल आकार सामाजिक मनोभूमिका और स्थानिक-कालिक व्यवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है।

एक जमाना था जब समाज को राजाओं की जरूरत थी। स्वयं लोगों ने समाज-व्यवस्था के लिए मनुमहाराज को राजा बनने के लिए कहा। परंतु अब जमाना बदल गया है। पहले **राजा कालस्य कारणम्** कहलाता था, अब प्रजा की शक्ति से समाज को एकरस करना है। जनता की शक्ति ही मुख्य शक्ति है, '1' (एक) की शक्ति है। सरकार की शक्ति '0' (शून्य) की शक्ति है। एक के बिना शून्य की अपनी कोई शक्ति ही नहीं। इसलिए 'एक' की शक्ति बढनी चाहिए।

जनशक्ति निर्माण करने के लिए तमाम पक्षों के भेदों का निरसन करना चाहिए। विचारभेद मैं समझ सकता हूं। परंतु भिन्न-भिन्न विचारों में भी जो समान अंश है, उसका कोई कार्यक्रम बनना चाहिए। देश में विचार-मंथन, और भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का खूब अध्ययन चलना चाहिए। विचारों का संघर्ष भी चले, परंतु जहां तक आचरण का प्रश्न है, वहां विभिन्न विचारधाराओं में जो समान अंश है, उसी को पकडा जाये। प्रत्येक में जो शक्ति पडी है, उन सबका जोड होना चाहिए।

हमें जनता को सु-शासन के लिए नहीं, 'स्व-शासन' के लिए तैयार करना है। स्व-शासन के दो पहलू हैं – 1. विकेंद्रित सत्ता अर्थात् सारी सत्ता गांव-गांव में बंट जानी चाहिए और गांव के लोगों को गांव का कारोबार खुद चलाना चाहिए। 2. 'हम हिंसा

में शक्ति हरगिज नहीं मानते, प्रेम और अहिंसा में ही मानते हैं', इस तरह का शिक्षण।

हम आज की राजनीति को तोड कर लोकनीति प्रस्थापित करना चाहते हैं। परंतु लोकनीति की स्थापना अभावात्मक नहीं है। समझने की बात है कि आज की राजनीति यद्यपि लोकनीति नहीं, फिर भी लोकमान्य अवश्य है। इसलिए जब लोग बदलेंगे, तब वह बदलेगी। इसलिए हम राजनीति के दोष ही दिखाते चले जायेंगे, तो अपनी शक्ति व्यर्थ खोयेंगे। हमारे पास स्वतंत्र जनशक्ति निर्माण करने का स्वतंत्र कार्य है।

हमारे सामने यह बहुत बडा कार्य है। लोग हमसे पूछते हैं कि आप सरकार से बाहर क्यों हैं? सत्ता में आप क्यों नहीं जाते? राज्य की धुरा वहन करनेवालों को धुरंधर कहते हैं। धुरंधर यानी बैल। तो हम जवाब देते हैं कि सत्ता में दो बैल तो गाडी पर लग ही गये हैं, अब हम तीसरे वहां जा कर क्या करेंगे? इससे तो हम रास्ता ठीक करने में शक्ति लगायें, यही ठीक होगा, ताकि वह गाडी अच्छी चले। स्वतंत्र लोकशक्ति के निर्माण-कार्य में हम लगे हैं, जिससे लोकनीति स्थापित हो सकेगी।

वर्तमान परिस्थिति के संदर्भ अब बदल गये हैं। हमारे यहां तीन घटनाएं एकसाथ आयीं। एक, देश स्वतंत्र हुआ। दो, लोकतंत्र पद्धति आयी और तीन, अभिनव विज्ञान यानी अणुयुग आया। यह एक विशेष घटना है कि तीनों घटनाएं एकसाथ आ गयीं। ऐसे संदर्भ में राजनीति का अध्यात्मीकरण कैसे होगा, यह महत्त्व का विषय बन जाता है। गोखलेजी से यह स्पिरिच्युअलाईजिंग दि पालिटिक्स (राजनीति का अध्यात्मीकरण) की प्रक्रिया

आरंभ हुई है। उनके बाद गांधीजी ने सत्याग्रह द्वारा राजनीति का अध्यात्मीकरण करने की कोशिश की।

लेकिन अब विज्ञान स्थानीय या दलीय या राष्ट्रीय राजनीति को सहन नहीं करेगा। उन्हें अब जाना ही है। इस परिस्थिति में, राजनीति का अध्यात्मीकरण करने की प्रक्रिया में यह ध्यान में आया कि इसमें राजनीति टिकती ही नहीं, वह टूट जाती है। जैसे लकडी को प्रज्वलित करने की कोशिश करते हैं तो वह जला दी जाती है। लकडी का लकडी-भाव कायम रख कर उसमें अग्नि का प्रवेश कराना, यह दिखाना कि लकडी भी कायम है और आग भी कायम, संभव नहीं। जितनी आग बढेगी, उतनी ही लकडी नष्ट होगी। लकडी के नाश के साथ-साथ उसका प्रकाश प्रकट होता है।

इस तरह राजनीति के दिन अब लद गये हैं। वह अब काल-बाह्य हो गयी है। राजनीति के स्थान पर अब हमें लोकनीति स्थापित करनी होगी और वह स्थापित होगी तीसरी शक्ति से, जनशक्ति से। मेरी तीसरी शक्ति की परिभाषा यह है कि **जो शक्ति हिंसा की शक्ति से विरोधी है अर्थात् हिंसा की शक्ति नहीं है और जो दंडशक्ति से भी भिन्न है, वैसी जनशक्ति हमारी तीसरी शक्ति है।** हम इसी शक्ति को निर्माण करना और उसे व्यापक बनाना चाहते हैं।

हमें ऐसी स्वतंत्र लोकशक्ति निर्माण करनी है। आज सरकार के हाथ में दंडशक्ति है। उसमें हिंसा का एक अंश जरूर है, फिर भी हम उसे हिंसा कहना नहीं चाहते। उस दंडशक्ति का भी उपयोग करने का मौका न आये ऐसी परिस्थिति निर्माण करना हमारा काम है। सर्वोदय सर्वव्यापी है। वह राजनीति से मुक्त

नहीं है लेकिन उसकी अपनी एक राजनीति है जो लोकनीति कही जाती है, जिसमें 'लोक' मुख्य है। सर्वोदय में लोक ही 'कालस्य कारणम्' होते हैं। गांव-गांव के लोग जब अपने गांव का राज्य खुद संभालेंगे तब शक्ति प्रकट होगी।

यह ग्रामराज्य अपने आप नहीं आयेगा। सत्ता किसी के देने से नहीं मिलती। सत्ता या अधिकार तो अंदर से प्राप्त होता है। जैसे मां अपने मातृत्व का स्वयं अनुभव करती है, जंगल का शेर खुद अपना अधिकार महसूस करता है, किसी ने उसको राजा नहीं बनाया, वैसे स्वराज्यशक्ति का लोगों को अंदर से भान होना चाहिए। जिस तरह भूख मिटाने के लिए खुदको ही खाना पडता है, वैसे हमारे गांव के स्वराज्य के लिए हमें ही काम करना होगा। इसी तरह केंद्रीय स्वराज्य से विभाजित स्वराज्य और स्वराज्य से राज्यमुक्ति या रामराज्य तक की मंजिल हमें तय करनी है।

सत्ता नहीं, शक्ति चाहिए

हमें यह बात समझ लेनी होगी कि यह सत्तातत्त्व क्या है। 'पॉवर', सत्ता अलग है और शक्ति 'स्ट्रेन्थ' अलग। अपना गुण प्रकट करने का मौका मिलता है तब शक्ति पैदा होती है। मनुष्य की शक्ति का लाभ समाज को मिलना चाहिए, जो आज नहीं मिल रहा। वास्तव में सत्ता यानी सत्-ता यानी सत् का, प्रभु का होना। सत्ता केवल उसी की हो सकती है। मनुष्य में जो सत्तावासना है, उसे तो खत्म ही करना है। और शक्ति पैदा करनी

हैं। गुण-प्रकाशन से, निष्काम सेवा से शक्ति पैदा होती है। 'पावर' में जाने से शक्ति का क्षय होता है। इसलिए लोकराज्य स्थापित करना है तो लोगों की शक्ति, जनशक्ति पैदा होनी चाहिए।

समाज को आगे वढाने के लिए समाज में नित्य निष्काम-सेवा तथा मूल्य-परिवर्तन के काम होते रहने चाहिए। स्वराज्य-प्राप्ति के वाद अपने देश में कुछ लोग सत्तास्थान पर चले गये। और कुछ रचनात्मक कार्य में लग गये। सत्ता में जानेवाले लोगों में ऐसे लोग तो विरल ही रहेंगे, जो जनकमहाराज जैसे हाथ में सत्ता होते हुए भी निष्काम सेवा करेंगे। वाकी के लोग तो 'सत्ता'-केंद्र के इर्दगिर्द ही घूमनेवाले होते हैं।

आज दुनिया में आगे वढने का अर्थ यही लगाया जाता है कि कीर्ति, पैसा या सत्ता खूव प्राप्त हो। लेकिन यह विलकुल ही गलत अर्थ है। यह अर्थ समाज के हित के विरुद्ध है और समाज और व्यक्ति का सुख भिन्न नहीं, समाज के सुख में ही व्यक्ति का सुख है। व्यक्ति की उन्नति का सही अर्थ यही है कि मनुष्य की आंतरिक शक्ति उत्तरोत्तर ऊपर उठे और उसकी आध्यात्मिक उन्नति हो। नैतिक स्तर से ऊपर उठते-उठते मनुष्य परमेश्वर के स्तर तक पहुंच सकता है।

वास्तव में चारित्र्यशुद्धि ही प्रधान वस्तु है। अगर उसको गौण मान कर सत्ता, कीर्ति या पैसे से ही काम होगा यह आभास हो, तो वह आभासमात्र ही है, वस्तुस्थिति नहीं है। सत्ता में अगर दोष हो तो चारित्र्यवान व्यक्ति उस दोष को दूर कर सकता है, परंतु

व्यक्ति में ही दोष होगा तो उसको दूर करने की शक्ति सत्ता में नहीं होती। क्योंकि मनुष्य चेतन है, सत्ता जड है।

अगर हमें चेतन के अलावा अन्य किसी चीज में शक्ति का आभास होता हो तो वह मरीचिका ही है। जब तक जड के पीछे चेतन दौडता रहेगा तब तक स्वराज्य का उदय नहीं होगा। सत्ता के विषय में स्वकीय-परकीय भेद एक भ्रम ही है। यह एक भ्रांत कल्पना है कि हमारे अपने हाथ में सत्ता होती है तो वह अच्छी होती है। वास्तव में जैसा हमारा 'स्व' होगा वैसा हमारा स्वराज्य होगा। अगर हम बिगडे हुए हों, तो हमारा स्वराज्य कभी शुद्ध होने की संभावना नहीं है।

शक्ति का अधिष्ठान कहां है, यह हमें देखना चाहिए। जब तक देश विदेशियों के हाथ में रहता है, तब तक शक्ति का अधिष्ठान राजनीति में रहता है। परंतु जब देश स्वतंत्र हो जाता है, तब शक्ति का अधिष्ठान बदल जाता है। फिर शक्ति राजनीति में नहीं, समाजसेवा में रहती है। क्योंकि फिर समाज का ढांचा बदलना होता है, आर्थिक विषमता मिटानी होती है। इन सारे कामों में कष्ट सहन करने होते हैं। भोग, लालसा को संयम में रखना पडता है, इसलिए शक्ति इसी क्षेत्र में रहती है। शक्ति का अधिष्ठान सत्ताक्षेत्र में नहीं रहता। जब तक मनुष्य को यह नहीं सूझता कि 'किसी पर भी हमारी सत्ता न चले' तब तक समाज नहीं बन सकता।

सत्ता का क्षेत्र एक सीमित क्षेत्र है। वहां कदम-कदम पर लोभ, मोह और लालच के अवसर आते रहते हैं, गिरने की संभावना रहती है। इसलिए जनकमहाराज जैसे निर्लिप्त वृत्तिवाले लोगों

की वहां आवश्यकता होती है। उनकी तादाद बहुत कम होती है। बाकी अधिक लोगों को सामाजिक क्षेत्र में काम करना चाहिए और देश को आगे ले जाने की शक्ति का निर्माण करना चाहिए।

राजनैतिक सत्ता में समाज को आगे ले जाने की अधिक शक्ति नहीं है। वह शक्ति और वृत्ति सर्व बंधनों से निर्लिप्त, सर्व स्थानों से अलिप्त, सेवापरायण वृत्ति से समाज की सेवा करनेवालों में ही हो सकती है। इसलिए शक्ति का अधिष्ठान सत्ता में नहीं, समाज-सेवा में है।

नवरात्रि के दिनों में सारे भारत में शक्ति की पूजा चलती है। व्रत, उपवास इत्यादि होते हैं। सप्तशती का पाठ होता है। दुर्गा सप्तशती में वर्णन है कि महिष नाम का एक असुर सारी दुनिया को सता रहा है और सारे देवगण भी डरे हुए हैं। वह महिष कौन है? ज्ञानदेवमहाराज कहते हैं – **मोह-महिष-वृत्ति**। तो फिर मोहरूपी महिष को मुक्ति देने के लिए दुर्गा का अवतार हुआ। डरे हुए देवगण शक्तिदेवी के पास गये। देवी ने कहा कि तुम सब लोगों की तरफ से मैं उसके साथ लडूंगी, लेकिन तुम्हारा हरएक का हथियार मुझे चाहिए। सब देवों के हथियार अपने पास आने के बाद दुर्गादेवी ने महिषासुर-मर्दन किया। अब शक्ति स्वयं क्या यह नहीं कर सकती थी? मगर ऐसा करती तो सामूहिक शक्ति प्रकट नहीं होती, आत्मशक्ति का भान लोगों को नहीं होता। इसलिए लोगों की अंतरंग शक्ति जागनी चाहिए। यही रहस्य गोवर्धन पर्वत उठानेवाली बात में है। जब तक बूढे, बच्चे, बीमार, स्त्रियां आदि सबका हाथ गोवर्धन को नहीं लगा, तब तक भगवान ने अपनी अंगुली नहीं उठायी।

आज सत्याग्रह में भी संशोधन आवश्यक

जब ऐसी समाजरचना होगी जिसमें हर निर्णय सर्वसम्मति से होता हो, वहां सामूहिक सत्याग्रह की जरूरत नहीं रहेगी। लेकिन जब तक यह नहीं होता, तब तक वर्तमान लोकतंत्र में सत्याग्रह का स्थान है ही, परंतु उसका स्वरूप भिन्न होगा, क्योंकि अब विज्ञानयुग आया है। सत्याग्रह का स्वरूप अडंगा लगाने का, संघर्षवाला न हो। मनःक्षोभ नहीं होना चाहिए। दोनों की एक-दूसरे के प्रति प्रीति हो और ऐसा हो कि करुणा का प्रसार हो रहा है। यह है लोकतंत्र का सत्याग्रह। सबसे पहले चित्त में से द्वेष हटा कर प्रेम स्थापित करना चाहिए। इसी लिए तो महात्मा गांधी ने कहा था कि सत्याग्रह में एक पद अध्याहृत है, सत्याग्रह मध्यमपदलोपी समास है। सत्याग्रह यानी सत्य के लिए प्रेम द्वारा सत्याग्रह।

वैसे देखा जाये तो सहयोग ही जीवन का सनातन तत्त्व है। लेकिन यह सहयोग स्वेच्छा से तथा ज्ञानपूर्वक होना चाहिए। साथ-साथ जनता को मौका आने पर असहयोग और प्रतिकार करना भी आना चाहिए।

असहयोग की अपेक्षा प्रतिकार अधिक तीव्र है। पहले के करते दूसरा करना नहीं होता। असहयोग में अपना सहयोग का हाथ खींच कर सामनेवाले पक्ष को अपनी परिस्थिति सुधारने का मौका दिया जाता है। असहयोग से काम न चले तो राज्य के कानून का विनयपूर्वक अर्थात् विशिष्ट मर्यादाओं के साथ, व्यवस्थितरूप से अनुशासन भंग न होने दे कर, खुले तौर पर अर्थात् किसी प्रकार

की गुप्तता रखे बिना अथवा छलकपट या वक्रता का आश्रय लिये बिना और दृढतापूर्वक अर्थात् विवादास्पद प्रश्न के बारे में कम से कम मांग कर, वह पूरी नहीं होती तब तक न हार कर, कानून भंग करना चाहिए। और ऐसा करते हुए यदि सजा हो जाये तो खुशी से मन में द्वेषभाव पैदा न होते हुए सहन करना चाहिए। इस प्रकार की तालीम जनता के जीवन के साथ बुन जानी चाहिए और ऐसा होने के लिए शिक्षण में तथा राष्ट्रीय नीतिशास्त्र में उसे स्थायी स्थान मिलना चाहिए।

सौम्य प्रक्रिया, सम्यक् चिंतन में सहयोग

अन्याय के प्रतिकार के चार रास्ते हैं –

1 – बुराई का हिंसा से जोरदार प्रतिकार,

2 – बुराई का तुल्य-बल हिंसा से प्रतिकार,

3 – बुराई का अहिंसा से प्रतिकार,

4 – बुराई का प्रतिकार ही नहीं करना। मतलब, बुराई का प्रतिकार करने में अपनी शक्ति न लगा कर, बुराई है ही नहीं, यह मान कर विधायक, रचनात्मक काम करते रहना। इससे बुराई खतम हो जायेगी।

पहला रास्ता राजनीतिवालों का है। अधिक बुराई से सामना करने में इनका विश्वास है। यह परिणाम-निरपेक्ष नहीं है। मुकाबले के संघर्ष में सफलता प्राप्त करनी ही है, इस हेतु से जोरदार हिंसा का आचरण किया जाता है।

दूसरा रास्ता मूसा आदि ने बताया है, जैसे के साथ तैसे का यह न्याय है। इसमें धर्मबुद्धि है, क्योंकि परिणाम-निरपेक्ष है।

तीसरा टॉलस्टाय और गांधी का रास्ता है। चौथे प्रकार में बुराई की उपेक्षा कर के अपनी ओर से प्रेम का विधायक कार्यक्रम हमें करते रहना है।

मैंने एक पांचवीं बात भी कही है, वह कुछ तीसरे और चौथे प्रकार से मिलती है। वह है, 'रेजिस्ट नॉट, असिस्ट द अपोनन्ट इन राईट थिंकिंग' यानी बुराई का प्रतिकार मत करो, विरोधी के सही चिंतन में मदद करो। सम्यक् चिंतन करने के लिए बाहर से कभी-कभी विरोध करना पड़े तो किया जाये, लेकिन उसका स्वरूप सम्यक् चिंतन में अहिंसक सहयोग का हो। सामनेवाले व्यक्ति को भी ऐसा अनुभव हो कि यह आदमी सम्यक् चिंतन में हमारी मदद कर रहा है।

जीवन का स्वरूप है, सत्यशोधन। सत्य का एक-एक अंश हाथ में आता है। पूरा सत्य एकसाथ हाथ में नहीं आता। सत्य प्राप्त होता है नम्रता, तटस्थता और अनाग्रह से। मेरा कहना है कि सत्याग्रही को सत्यग्राही होना जरूरी है और इसी लिए उसे पहले तो सामनेवाले के सत्य को ग्रहण करना चाहिए।

एक बात यह भी है कि विज्ञानयुग में सत्याग्रह उत्तरोत्तर सौम्य होता जाना चाहिए। पहले, काम नहीं हुआ तो सत्याग्रह तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम की दिशा में जाता था, परंतु यह ठीक नहीं है। सत्याग्रह उत्तरोत्तर सौम्य, सौम्यतर और सौम्यतम की दिशा में जाना चाहिए और सत्याग्रही के सत्य के कारण सामनेवाले के

मन में भी अक्षोभ पैदा होना चाहिए। सत्याग्रह की कसौटी है – अक्षुब्धता।

सत्याग्रही के चित्त की एक अवस्था बननी चाहिए। उसके चित्त में 'सर्वेषां अविरोधेन' काम करने की वृत्ति हो, सबका सहयोग हासिल करने की वृत्ति हो। यह 'सहयोग' एक बहुत बडा सूत्र है शिक्षण का। गुणग्रहण कर के सहयोगवृत्ति बढाना आवश्यक है, तभी सच्चा सत्य-ग्रहण होगा।

सत्याग्रह में मुख्य चीज है – अक्षुब्ध मन, सत्यग्राही वृत्ति, सहयोग करने की तैयारी।

सत्याग्रह में विरोधी पक्ष को, और हमको भी, यह अनुभव होना चाहिए कि हम उनके लिए किसी प्रकार का द्वेष नहीं रखते हैं, बल्कि करुणा रखते हैं।

सत्याग्रह एक नैमित्तिक चीज नहीं, नित्य चीज है। इसलिए हमारा सत्याग्रह प्रतिक्षण चलना चाहिए। सत्याग्रह जीवन की चीज है, वह एक निष्ठा है। सत्याग्रह लडाई का सबस्टिटयुट (पर्याय) नहीं है। लडाई से उसका स्वरूप बिलकुल उलटा है। लडाई में एक की जीत, दूसरे की हार होती है। सत्याग्रह में दोनों पक्षों की जीत ही होती है। लडाई में विचार कुंठित होते हैं, सत्याग्रह में बुद्धि के परदे खुल जाते हैं और विचार करने के लिए बुद्धि प्रेरित होती है। इसलिए विचार समझाना ही सत्याग्रह का सर्वोत्तम, शुद्ध स्वरूप है।

सत्याग्रह पानी में पडी अग्नि है। पानी में प्रविष्ट है, पर है अग्नि। यह पानी के अंदर है इसलिए जला नहीं सकती, पानी को सिर्फ गरम कर सकती है। पानी चाहे कितना ही गरम हो जाये,

वह घर को जला नहीं सकता है। स एव अग्निः सलिले सन्निविष्टः यह सत्याग्रह का स्वरूप है। हमारा कोई पीडामूल्य – न्यूसन्स व्हॅल्यू नहीं है, यही हमारी अपनी विशिष्टता है। हमें ऐसा पक्का विश्वास होना चाहिए कि अपनी बात ऐसी मधुर और सत्य है कि एकबार लोग हमें कान देंगे, तो बाद में उन्हें 'मन' देना ही पडेगा।

मन अक्षुब्ध रहे इसलिए साधना करनी होती है। जहां हम हर चीज को ब्रह्मदृष्टि से देखने की कोशिश करते हैं, वहां कोई भी घटना छोटी नहीं रह जाती। कोई भी क्षोभकारी घटना क्षोभ पैदा नहीं करती। सब घटनाएं महत्त्वपूर्ण और महत्त्वशून्य बन जाती हैं। महत्त्व की होने से चिंतन पैदा करती हैं, महत्त्वशून्य होने से क्षोभ का कारण नहीं रहता। हर घटना महत्त्व की, हर घटना महत्त्वशून्य !

शासनमुक्त समाज-रचना

जनता का खुदका राज्य, इसके मानी क्या हैं ? जहां प्रजा स्वयं अपना कारोबार चलाती है, वहां 'राज्य' नहीं होता है, वह होता है प्राज्य। जहां सबकी सत्ता चलती है, वह होता है सर्वराज्य या स्वराज्य, या लोकराज्य। उसमें 'लोक' किसी की प्रजा नहीं रह जाती, 'लोक' पर और किसी का शासन नहीं चलता। स्वराज्य का अर्थ है, आत्मशासन। जब लोगों में अपने पर काबू रखने की शक्ति पैदा होगी, तब 'स्वराज्य' पैदा होगा।

दुनिया की दूसरी कोई सत्ता अपने ऊपर चलने न देना, स्वराज्य का यह एक लक्षण है। और दूसरे किसी पर अपनी सत्ता न चलाना, स्वराज्य का दूसरा लक्षण है। किसी की सत्ता हम पर न चले और हम दूसरे किसी पर अपनी सत्ता न चलायें, ये दोनों बातें मिल कर ही स्वराज्य होता है।

इस तरह लोकराज्य में लोगों को दूसरे किसी की सत्ता से मुक्त होना है। मनुष्य मनुष्य के रूप में पूरी तरह विकास करे, इसके लिए उसे जहां तक हो, अधिक से अधिक शासन-मुक्त बनना चाहिए।

लोग मुझे कहते हैं कि आप शासनमुक्ति की बात करते हैं, परंतु शासन के बिना तो चलेगा ही नहीं। तो मैं कहता हूं जिसके बिना आपको चलता नहीं, वह तो आप करते ही हैं। आनेवाली कल में आपको जिसकी जरूरत है, वह मैं कर रहा हूं। देखते-देखते शासन दुःशासन हो जाता है। सुशासन में हम यंत्रवत् हो जाते हैं। स्वयं प्रज्ञा का जिसमें उदय न हो, वह कोई सर्वोत्तम व्यवस्था नहीं कही जा सकती। मैं प्रजा को सरकार की विरोधी नहीं, भिन्न मानता हूं। इसलिए मैं शासनमुक्त-समाज का स्वप्न लोगों के सामने रख रहा हूं। शासन-मुक्त समाज-रचना का स्वप्न महामुनि कार्ल मार्क्स ने देखा था। वह एक आर्षदृष्टि है। अभी तक वह साकार नहीं हुआ, फिर भी दुनिया के समक्ष शासनमुक्त समाज का स्वप्न प्रस्तुत करने के लिए उनको मैं धन्यवाद देता हूं। उन्होंने कहा, अल्टिमेटली स्टेट विल विदर अवे एण्ड मेन विल बि सेल्फ-गवर्न्ड' (अंत में राजसत्ता का लोप होगा और मनुष्य स्वयंशासित

होगा) । जिस मनुष्य में आर्षदृष्टि होगी, उसकी प्रज्ञा में ही यह विचार जन्म ले सकता है। परंतु उन्होंने कहा, 'अल्टिमेटली' – (अंत में), बीच के संधिकाल में तो सत्ता का ही खेल चलेगा। यह संधिकाल कभी पूरा ही नहीं होता। दुनिया के प्रारंभकाल से यह संधिकाल चला आ रहा है। बीती हुई कल और आनेवाली कल के बीच जो 'आज' है, बीता हुआ 'क्षण' और आनेवाले क्षण के बीच का जो 'क्षण' है. . . वह है संधिकाल। इसलिए सबके लिए सदा के लिए संधिकाल ही है। संधिकाल के नाम से मूल चीज को दूर रखने की वृत्ति रखेंगे, तो अहिंसा का विचार निकम्मा ही सिद्ध होगा।

सर्वोदय विचारधारा में शासनमुक्ति की ओर जाना है। अशासन या शासनहीनता से सुशासन तक पहुंच कर रुक जाना नहीं है। सुशासन भी इस तरह चलाना होगा कि शासनमुक्ति के लिए राह खुली रहे। अपने सवाल जनता खुद अपनी शक्ति से हल करे, यह शासनमुक्ति की दिशा है। ज्यादा से ज्यादा अधिकार गांववालों को मिलें और सत्ता का विभाजन हो। सर्वानुमति की पद्धति दाखिल किये बिना सत्ता का विकेंद्रीकरण नहीं होगा।

जनता को अपनी आंतरिक शक्ति का भान होगा, तभी शासन-मुक्ति हो सकेगी। हमारा एक सूत्र है – आत्मशक्तेर्भानात् ततः शासनमुक्तिः। जब जनता का चित्त सरकार-मुक्त होगा तभी

शासनमुक्ति होगी। काकासाहब ने हमें एक सुंदर मंत्र दिया है – 'अ-सरकारी असर-कारी'। मतलब जो गैर-सरकारी है, वही ज्यादा असरकारी होता है।

सर्वोदय यानी बहुमत का शासन या अच्छा शासन नहीं है। शासनमुक्ति या शासन का विकेंद्रीकरण ही सर्वोदय है। कोई भी काम सर्वसम्मति से और गांव की जनशक्ति से हो। स्वराज्य के मानी हैं, सारे देश का राज्य। जब दूसरे देश की सत्ता अपने देश पर नहीं रहती, तब स्वराज्य हो जाता है। लेकिन जब हरएक गांव में स्वराज्य हो जाता है, तब उसे ग्रामराज्य कहा जाता है, इसी का नाम है शासनविभाजन। जब गांव के सब लोग बुद्धिमान हो जायें और किसी पर सत्ता चलाने की जरूरत ही न पडे, तो उसका नाम है रामराज्य।

सार्थक अर्थव्यवस्था

ब्रह्मज्योति के दो रूप हैं - एक शांत और एक समृद्ध । जो शांत रूप है उसका आधार आकाश है और जो समृद्ध है उसका आधार अन्न । जीवन में दो चीजों की जरूरत होती है - 1. समृद्धि के लिए अन्न (शरीर-परिश्रम), 2. शांति के लिए आकाश (ब्रह्मविद्या) ।

इसी लिए ऋषि ने आज्ञा दी - अन्नं बहु कुर्वीत । अन्न पैदा करो । और कहा - तद् व्रतम् । व्रत के तौर पर खूब अन्न पैदा करने को कहा । हरएक भूमिपुत्र को भूमि देना ही अन्न उपजाने का एकमेव उपाय है ।

फिर ऋषि ने कहा - यावान् वा अयमाकाशः, तावान् एषोऽन्तर्-हृदये आकाशः । जितना व्यापक आकाश बाहर है उतना ही अंदर है । दिल के आकाश को बाहर के आकाश के समान उदार बनाओ ।

*

– पांच उंगलियों की समानता

– साम्य की स्थापना कैसे हो

– परार्थ ही सबसे बडा स्वार्थ

– लक्ष्मी और पैसे में फर्क

– पैसे का भ्रमजाल

– अर्थशुचि सर्वोत्तम शुचि

– संग्रह का क्रम

– माता भूमि के सब संतान समान

– प्लानिंग पार्शियल कि नेशनल ?

– समाज के तीन वर्ग और सर्वोदय का कार्य

– सर्वोदय में समता और क्षमता

– सहयोगी समाज का स्वरूप

– वाणिज्य धर्म और ट्रस्टीशिप

– विश्वास : तीसरी शक्ति

स्वराज्य के बाद अब हमें अपना समाज खुद बनाने का मौका हाथ में आया है। जब तक खेत अपने हाथ में नहीं था, तब तक खेत मुहय्या करना अपना पहला स्वधर्म था। लेकिन खेत हाथ में आने पर उसे समतल करना, ऊबड़-खाबड़ भूमि को काश्त के योग्य बनाना हमारा काम है। साम्ययोगी समाज में आर्थिक समता भी एक महत्त्व का पहलू है। अहिंसक समाज-रचना के लिए शोषण-मुक्ति अनिवार्य चीज है।

जब समाज में हितविरोध होता है, तब शोषण होता है। वास्तव में समाज में कोई परस्पर-विरोध है नहीं। हितसाम्य सर्वोदय का सिद्धांत है। व्यक्ति के हित में राष्ट्र का हित और राष्ट्र के हित में विश्वहित निहित है। सर्वोदय अविरोधी है, यह बुनियादी चीज है। हितविरोध खत्म कर के हमें साम्ययोग की दिशा में जाना है।

पांच उंगलियों की समानता

सर्वोदय विचारधारा की साम्य की कल्पना पांच उंगलियों के समान है। हाथ की पांचों उंगलियों में जितनी असमानता है, उतनी असमानता समाज में रहे। हाथ की उंगलियां एकदम समान भी नहीं हैं और उनमें बहुत ज्यादा असमानता भी नहीं है। अगर पांचों उंगलियां एकदम समान होतीं तो कुछ काम नहीं बनता, एक लोटा उठाना भी संभव नहीं होता। और अगर एक उंगली दो इंच की और दूसरी एक फूट की, इस प्रकार असमानता हो तो भी काम नहीं होगा। समाज में भी किसी के पास बहुत ज्यादा और किसी के पास बहुत कम यह न हो। सबको पेट भरने का

अधिकार है। कोई कम खाये, कोई ज्यादा, लेकिन पेटी भरने का किसी को अधिकार नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं कि हम संपत्ति नहीं चाहते हैं। संपत्ति तो अवश्य रहनी चाहिए, परंतु उसका स्थान घर नहीं, समाज है। जैसे कि कबीर ने कहा है –

पानी बाढो नाव में, घर में बाढो दाम
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम

संपत्ति यदि घर में बढती है तो उसमें खतरा है, यह मनुष्य को समझना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में संपत्ति का बंटवारा ही तरणोपाय है।

साम्य की स्थापना कैसे हो

आज का जमाना ही समता का युग है। अब विषमता टिकनेवाली नहीं है। कोई उसे प्रतिष्ठित करना चाहे तो भी वह टिक नहीं सकेगी। आज का यह युगधर्म है कि साम्य की स्थापना हो। सवाल इतना ही है कि यह समता हिंसा से, मत्सर से, कानून से या करुणा से स्थापित की जाये!

अगर हम करुणामूलक साम्य लायेंगे तो समाज टिकेगा। मत्सरमूलक साम्य लाने से समाज में संघर्ष पैदा होगा। उसमें सब

लोग अपने से ऊपर की ओर देखेंगे, उनमें स्पर्धा बढ़ेगी। विज्ञान-युग में स्पर्धा के मूल्य को नहीं, सहयोग के मूल्य को बढ़ावा देना है। करुणामूलक साम्य-स्थापना में सब अपने से जो नीचे हैं, उनकी ओर देखेंगे। इसमें से जो शक्ति बनेगी वह स्थायी होगी।

हमारा समाज हमारे शरीर जैसा हो। शरीर में जिस किसी अवयव की तकलीफ हो, उसकी ओर सारे शरीर का ध्यान रहता है, इतना ही नहीं, एक अंग के दुःख से सारा शरीर दुःखी होता है। समाज में हमें ऐसी संवेदन-शीलता जगानी है। जैसे पहाड़ पर पानी गिरता है तो वह वहीं टिकता नहीं, वह नीचे की ओर बहना शुरू करता है और भूमि का जो सबसे नीचा धरातल है, जो सागर नाम से पहचाना जाता है, वहीं जा कर रुकता है। एक बालटी में पानी भरा हो, उसमें से यदि किसी ने एक लोटा पानी ले लिया, तो भी पानी में हम गढा नहीं पाते। इसका कारण यही है कि जैसा लोटाभर पानी उठाया गया, चारों ओर का पानी दौड कर उस गढे को भर देता है। पता भी नहीं चलता कि यहां से पानी उठाया गया है। परंतु चावल के ढेर में ऐसा नहीं होता। यदि उस ढेर में से पतेलीभर चावल कोई उठा ले तो वहां एकदम गढा स्पष्ट दिखायी देता है। दो-चार महात्मावाले चावल के दाने उस गढे की ओर दौडते जरूर हैं, परंतु वह गढा भरता नहीं है। तो हमें चावलवाला समाज नहीं, पानीवाला समाज बनाना है। यह पानीवाला समाज ही साम्ययोगी समाज है।

परार्थ ही सबसे बडा स्वार्थ

इसमें पहला सवाल यह आता है कि मानव में ही जो स्वार्थ, लोभ और सत्ता हासिल करने की प्रेरणा रही है, उसका उपाय कैसे करेंगे ? इसमें कोई शक नहीं कि मनुष्य में यह स्वार्थवृत्ति है, जिसे गीता ने **भोगैश्वर्य वृत्ति** कहा है। लेकिन गीता ने हार नहीं खायी और उसी ने इसे जीतने तथा काम में लगाने का उपाय दिखाया है। मनुष्य को अपनी वासनाओं का नियंत्रण करना है। जिस तरह कामवासना का नियंत्रण करने मानव-समाज में विवाह संस्था विकसित हुई, वैसे ही अब लोभवासना का नियमन करना होगा। समाज में एक नया मूल्य स्थापित करना होगा कि जैसे चोरी पाप है, वैसे हीं संग्रह भी पाप है। क्योंकि चोर का बाप संग्रहखोर है। समाज में यदि अपरिग्रह नहीं आयेगा, तो अपहरण रहेगा ही। अस्तेय के मुताबिक अपरिग्रह भी एक महासिद्धांत है और उसे कार्यान्वित करने के लिए लोभ को छोडना पडेगा।

इसमें आशा का बिंदु यह है कि मनुष्य में केवल भोगैश्वर्यवासना ही नहीं है, उसमें धर्मवासना, धर्म प्रेरणा भी बडी बलवान है। उस धर्म प्रेरणा के अंकुश में भोगैश्वर्यवासना लाना होगा। शास्त्रकारों ने एक उपाय यह भी दिखाया है कि **धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः**। धर्म, अर्थ और काम का सेवन सबको एकसाथ मिल कर और समान भाव से करना चाहिए। हरएक को धर्मसेवन का, गुणविकास का मौका मिलना चाहिए। अर्थ का समान भाव से सेवन करने का मतलब ही यह है कि हरएक को जीवन की

आवश्यक चीजें समान भाव से मिलनी चाहिए। इस तरह 'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः' यह सामाजिक जीवन का सूत्र है।

लक्ष्मी और पैसे में फर्क

वास्तविक संपत्ति कौनसी है यह भी समझ लेने की जरूरत है। नासिक के छापखाने में जो ठप-ठप छपता है, वह लक्ष्मी नहीं है। वह पैसा तो लफंगा है, वह आज एक बोलता है, कल दूसरा। उसका मूल्य बढता-घटता है। लक्ष्मी में ऐसी वृद्धि कभी नहीं होती। एक सेर अनाज में जो शक्ति पांच साल पहले होगी, उतनी ही आज रहेगी। लेकिन रुपये का मूल्य घटता जा रहा है। हमारी दृष्टि में सच्ची 'श्री' वह है, जो श्रम से खेतों में पैदा होती है। हम लोगों ने वित्त को 'द्रव्य' भी कहा है। द्रव्य का अर्थ होता है – द्रव: स:- वहनेवाला द्रवरूप। जैसे चश्मे का पानी वहता रहता है तो वह स्वच्छ निर्मल रहता है, वैसे ही वित्त को भी द्रवरूप धारण करना होगा तभी वह स्वच्छ और निर्मल होगा। सामाजिक क्लेश निर्मूलन के लिए वित्त को द्रव्य बनना होगा और खेतों में 'श्री' पैदा करने में सबकी शक्ति लगानी होगी।

ऋग्वेद हमारा सबसे प्राचीन धर्मग्रंथ है। उस ग्रंथ ने हमें यह आज्ञा दी है कि अन्नं बहु कुर्वीत। यानी खूब अन्न पैदा करो। देखिए, यह किसी अर्थशास्त्र की किताब आज्ञा नहीं कर रही, धर्मग्रंथ आदेश दे रहा है कि खूब अन्न पैदा करो। अन्न-स्वावलंबन हमारा प्राथमिक स्वावलंबन है। अहिंसक समाज-रचना का यह

स्वयंप्रामाण्य है कि कम से कम अन्न और वस्त्र के बारे में हमारा स्वावलंवन हो।

विपुल अन्न पैदा करने के लिए केवल बारिश के भरोसे नहीं रह सकते। इसी लिए नारद ने धर्मराज से पूछा था, 'तेरे राज्य में खेती सिर्फ देवता के भरोसे तो नहीं होती?' देवता से मतलब है बारिश। यदि हम जमीन के नीचे छिपी हुई गुप्त गंगा प्रकट कर सकें तो हिंदुस्तान की जमीन की योग्यता पांचगुनी बढेगी। इसी लिए हमने 'एक शादी, एक कुआं' की योजना दे कर कहा कि हर शादी में एक कुआं खोदा जाये। जमीन के नीचे छिपी हुई यह सरस्वती प्रकट होनी चाहिए। इसी लिए हमने 'कूपदान' का कार्यक्रम चलाया है।

मैंने एक सुझाव यह भी दिया है कि सरकार जो लगान वसूल करती है, वह अनाज के रूप में ले और सरकारी अधिकारियों, कर्मचारियों और मजदूरों को वेतन का एक निश्चित हिस्सा अनाज के रूप में दिया जाये। तो पैसे के चक्कर में से हम धीरे-धीरे छूट सकेंगे। अनाज सोना है। हर गांव में दो साल का अनाज रहना ही चाहिए। अन्न-स्वावलंवन को 'मूलभूत प्रमेय' मान कर चलना चाहिए। मनी-क्रॉप यानी पैसा लानेवाली फसल के पीछे जायेंगे तो अहिंसा की वात छोड देनी पडेगी। अहिंसा द्वारा देश का संरक्षण करना हो तो उसके लिए स्वावलंबन जरूरी है।

हमने जब प्लानिंग कमिशनवालों से कहा कि हमें अनाज में स्वावलंवी होना चाहिए तब कुछ लोग हमें 'जय-जगत' की बात सुनाने लगे कि विज्ञानयुग में ऐसी संकुचितता रखना ठीक नहीं। परंतु यदि हम अनाज एक जगह से दूसरी जगह ले जाने का उसूल

मंजूर करते हैं तो फिर जो चीज जहां अधिक पैदा होती है, वहीं पैदा की जायेगी और सब चीजों का आदान-प्रदान चलता रहेगा। इसमें बीचवाला जो अधिकरण होता है, उसका महत्त्व बढ जाता है। अहिंसक समाज-रचना में इस प्रकार के अधिकरण के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि जहां अधिकरण आया, वहां अहिंसा टिक नहीं सकती। अहिंसा के लिए स्वयंपूर्णता अनिवार्य है। हमारा तो मकसद है कि धीरे-धीरे राज्य की जरूरत ही कम होती चली जाये और शासनमुक्ति हो।

विश्वराज्य के बारे में कुछ लोग सोचते हैं कि सारी दुनिया की कोई एक राजधानी हो और वहां से सारा कारोबार चले। लेकिन, वास्तविक एकता विचारों की होती है। मेरी योजना में तो- 1. अनाज, वस्त्र आदि प्राथमिक आवश्यकताओं के बारे में गांव स्वावलंबी हो। 2. सारी दुनिया में विचारों का आदान-प्रदान चलता रहे ताकि मानवों में एकता की भावना पैदा हो। 3. वस्तुओं का आदान-प्रदान हो, लेकिन प्रीति-भेंट के तौर पर और ऐसी वस्तुओं का जिनके बिना काम चल सकता है। 4. दुनिया के सारे विवाद हल करने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायमंडल रहे। 5. जहां जैसे मदद की जरूरत पडी, वहां दूसरे देशों से वह मदद पहुंचायी जायेगी। अंतर्राष्ट्रीय संगठन के पास केवल नैतिक शक्ति रहेगी। ग्रामपंचायतों के पास थोडी-सी पुलिस रह सकती है। यह जो न्यायमंडल बनेगा, उसमें हरएक देश की जनता अपने देश के ज्ञानी तथा सदाचारी व्यक्तियों को वहां भेजेगी।

पैसे का भ्रमजाल

साम्ययोगी समाज में संग्रह का भी एक शास्त्र होगा। उसमें निकम्मी चीजों का तो संग्रह होगा ही नहीं, केवल 'लक्ष्मी' का संग्रह होगा। पैसा लक्ष्मी नहीं, पिशाच है, वह कम से कम रहेगा। वास्तव में केला, आम, तरकारी, अनाज, दूध यही लक्ष्मी है। जैसे किसी को रिवॉल्वर दिखा कर केले ले जाना चोरी, डकैती है, वैसे ही पांच रुपये का नोट दिखा कर घी ले जाना भी डकैती है। पैसा तो राक्षसों का औजार है। लक्ष्मी देवता है। वह विष्णु भगवान के आश्रय में रहती है। **उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।** उद्योग करनेवाले को लक्ष्मी मिलती है। **कराग्रे वसते लक्ष्मी।** लक्ष्मी हमारे हाथ की उंगलियों में रहती है। हाथ से परिश्रम करने पर लक्ष्मी मिलेगी।

पैसे से चोरी सुलभ हो जाती है। वह रात में भी नहीं करनी पडती, दिन में ही हो जाती है। वह सारा पैसा लोगों के पास पहुंचा और उसी ने लोगों को भ्रम में डाल दिया है। आज जो दरिद्र है, वह लक्ष्मीवान माना जाता है और जो लक्ष्मीवान है, वह दरिद्र बन गया है। जिसके पास दूध, तरकारी, अनाज है, वह कहलाता है गरीब और जिसके पास इनमें से कोई चीज नहीं, केवल पैसा है, वह है श्रीमान।

शहरवालों ने देहातों को लूटने के लिए चारों ओर पैसे का भ्रमजाल फैला दिया है। देहातवाले अनाज पकाते हैं। दूध, घी, फल, तरकारी आदि सब चीजें भी वे ही पैदा करते हैं और शहरवाले कागज के टुकडे दे कर सब खींच लेते हैं। परिणामस्वरूप देहात

के बच्चे दूध, घी, मक्खन कुछ नहीं खाते। यह सारा काला बाजार नहीं है। लोग काले बाजार की निंदा करते हैं। परंतु यह सारी लूट तो सफेद बाजार में ही होती है।

धन की तीन गतियां होती हैं। दान, भोग और नाश। तुलसीदासजी ने कहा – **सो धन धन्य प्रथम गति जाकी**। जिस धन की प्रथम गति है उसकी अर्थात् दान की हुई संपत्ति की गति उत्तम है। भर्तृहरि ने कहा – **दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य**। (धन की तीन गति हैं – दान, भोग और नाश)। दान मनुष्य का नित्य कर्म है। यज्ञ, दान और तप ये मनुष्य के त्रिविध कर्तव्य हैं। यदि हम ये शब्द छोड़ेंगे तो भारत का जीवन शुष्क हो जायेगा। पुराने शब्द छोडने से अहिंसक क्रांति नहीं होती।

अर्थशुचि सर्वोत्तम शुचि

संपत्ति को अंग्रेजी में प्रॉपर्टी कहते हैं। यानी जो प्रॉपर है, वही प्रॉपर्टी हो सकती है। हमारे शास्त्रों में अनेक प्रकार की शुद्धि बतायी है। जैसे, चित्तशुद्धि, हृदयशुद्धि, समाजशुद्धि। उनमें एक है – अर्थशुद्धि। मनु ने कहा – **यः अर्थशुचिः सः शुचिः**। जिसके जीवन में आर्थिक शुचिता है, उसका जीवन शुचि है। जब तक व्यवहार शुद्धि नहीं होती, तब तक आध्यात्मिकता अधूरी रह जाती है। अस्तेय और अपरिग्रह दोनों मिल कर अर्थशुचित्व पूर्ण होता है, जिसके बगैर व्यक्ति और समाज के जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। सत्य और अहिंसा तो मूल हैं, लेकिन आर्थिक

क्षेत्र में दोनों का आविर्भाव अस्तेय और अपरिग्रह से ही हो सकता है। आर्थिक क्षेत्र जीवन का बहुत ही बडा अंग है इसलिए धर्मशास्त्र इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता, बल्कि उसका नियमन और नियोजन करने की जिम्मेवारी धर्मविचार पर आती है।

हमने पवनार आश्रम में 'कांचन-मुक्ति-प्रयोग' आरंभ किया था।*

संग्रह का क्रम

हम समाज में अपरिग्रह चाहते हैं। अपरिग्रह यानी दारिद्र्य नहीं। अपरिग्रह यानी क्रमयुक्त संग्रह। सबको प्राथमिक आवश्यकता मुहय्या करनी है।

समाज में सबसे आखिर में जो है, उसकी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। सबको भरपेट खाना मिले। बूढे, बच्चे, बीमारों को दूध मिलना चाहिए। एकबार मैंने बंगाल में हिसाब किया था। वहां व्यक्तिशः छः तोला दूध आता था। उसी में मिठाई, घी, सबकुछ बनता है। बच्चों के मुंह में दूध न जाये और बाजार में मिठाई बिके? मेरे हाथ में राज्य हो तो संदेश आदि सभी मिठाइयां बंद करवा दूं। इसलिए संग्रह का क्रम इस प्रकार रहना चाहिए – 1. सबको उत्तम खाना मिलना चाहिए। उसका आदर्श यह होगा कि रुपये में अस्सी पैसा खर्च खाने पर होना चाहिए; 2. हरएक को शरीर ढांकने को वस्त्र मिलने चाहिए;

* देखें 'अहिंसा की तलाश' (मैत्री, नवंबर 1985 विशेषांक) पृ. 132

3. अच्छे घर; 4. काम करने के औजार; 5. ज्ञान के साधन यानी उत्तम पुस्तक और 6. संगीतादि मनोरंजन के साधन।

समाज में मदद पहुंचाने का भी क्रम होता है। पहले भूखिया, फिर दुखिया और बाद में सुखिया। गांधीजी हमेशा इसी तरह सोचते थे कि जिन्हें मदद की सबसे प्रथम जरूरत है, उन्हें प्रथम मदद मिले। इसी में से चरखा निकला। यही तो उनकी अद्भुत प्रतिभा थी। यास्काचार्य ने कहा है, कविः क्रांतदर्शीः। जिसे क्रांत-दर्शन – दूर का दर्शन और सूक्ष्म दर्शन होता है, वह कवि है। खादी-ग्रामोद्योग गांधीजी का क्रांत-दर्शन है।

लोग कहते हैं कि आजकल स्वार्थ खूब बढ गया है। क्योंकि हम 'स्व' को ठीक से समझे नहीं हैं, न 'अर्थ' को। हमने 'स्व' को अपने देह में ही सीमित कर दिया है और 'अर्थ' को पैसे में समाप्त कर दिया है। अब 'स्व' को विस्तृत करना होगा और 'अर्थ' को परिशुद्ध करना होगा। विज्ञान के युग में इन दोनों का संकुचित स्वरूप अब टिकेगा नहीं। घर में मां से पूछा जाये कि तुमको खाना मिल जाये तो चलेगा? तो तुरंत वह कहेगी कि नहीं, मेरे बच्चे और पति को भी खाना मिलना चाहिए। मां के लिए परिवार स्वार्थ है। अब विज्ञानयुग में परिवार की मां को ग्राममाता बनना होगा और ग्राम को स्वार्थ बनाना होगा। आज तक गृहलक्ष्मी बन कर उसने परिवार को अच्छी बुनियाद दी, अब उसे गृहलक्ष्मी बन कर परिवार के प्रेम, त्याग और समर्पण के मूल्य गांव में प्रस्थापित करने हैं।

माता भूमि के सब संतान समान

अन्न मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है। परंतु उस अन्न को जो पैदा करते हैं, उनमें से 40 प्रतिशत भूमि-मजदूर आज भूमिहीन हैं। यह कैसा न्याय? उत्पादक के पास उत्पादन का साधन न हो? भूमि पर आज मिलकियत वनी है। जो खुद काश्त करता नहीं, हाथ में हल लेता नहीं, वह बना है जमीन का मालिक। क्या जमीन की भी मिलकियत हो सकती है ? भूमि तो हमारी मां है, हम सब उसके संतान हैं। भूमि तो भगवान की ही हो सकती है और उस पर सबका समान हक है। जैसे हवा, पानी और सूरज की रोशनी पर किसी व्यक्ति का हक नहीं हो सकता, वैसे ही जमीन पर भी किसी का हक नहीं हो सकता, वह सबकी होनी चाहिए। भगवान का प्रतिनिधि समाज है, इसलिए समाज की, गांव की मिलकियत बने, यह काम हमने ग्रामदान द्वारा चलाया है। पहले हम भूमिवानों से समाज के प्रतिनिधि के तौर पर कुल जमीन में से छठा हिस्सा भूदान मांगते थे और बेजमीन मजदूरों में उसे बांटते थे। करीबन 32 लाख जमीन बंट भी गयी। परंतु भूदान में से ही ग्रामदान का आविर्भाव हुआ। अगर ग्रामदान के जरिये भारत की सारी भूमि गांव की मिलकियत की हो जाती है, तो एक बडी क्रांति होगी और वह क्रांति दुनिया को एक राह दिखायेगी। जमीन का मसला वर्तमान युग का बडा भारी मसला है, उसे अगर हम प्रेम और त्याग से हल कर देते हैं तो एक नयी भूमिका तैयार हो जायेगी, जिसमें गांवों की नवरचना होगी।

प्लानिंग पार्शियल या नेशनल ?

कोई भी 'नेशनल प्लानिंग' (राष्ट्रीय आयोजन) 'नेशनल' (राष्ट्रीय) कहलानेलायक तब बनता है, जब वह सबको पूरा काम दे। सबको काम, सबको रोटी, यह हमारा मूलभूत सिद्धांत है। योजना आयोग के एक सदस्य ने एकबार मुझे कहा कि हमारा प्लानिंग नेशनल नहीं है, पार्शियल (आंशिक) है, इसमें किसी न किसी का बलिदान होगा ही। तब मैंने कहा था कि अगर आपका यह 'पार्शियल प्लानिंग' है तो वह पार्शलिटि (पक्षपात) गरीबों के पक्ष में करना चाहिए। मतलब, सारे देश की जिम्मेवारी महसूस करनी चाहिए। इसे निभाने के लिए गांव में बननेवाले कच्चे माल का पक्का माल गांव में ही बना कर क्षेत्रीय स्वावलंबन साधना चाहिए।

हम जब स्वावलंबन की बात करते हैं तो लोग परस्परावलंबन का सिद्धांत हमें समझाते हैं। हम परस्परावलंबन मानते हैं, लेकिन हम असमर्थों का परस्परावलंबन नहीं मानते, हम समर्थों का परस्परावलंबन चाहते हैं। अंधे और पंगु का परस्परावलंबन असमर्थों का परस्परावलंबन है। आंखवाला और पांववाला दोनों समर्थों का परस्परावलंबन है। हमें अंध-पंगु-न्याय नहीं चाहिए।

समाज के तीन वर्ग और सर्वोदय का कार्य

इन दिनों मध्यम वर्ग की हालत दयनीय बन गयी है। ऊपर के वर्ग के पास पैसा है और नीचे के वर्ग के पास परिश्रम है। परंतु मध्यम वर्ग उत्पादक श्रम नहीं करता है। उसका मुख्य आधार नौकरी है।

हिंदुस्तान के गांवों के लोगों पर हमारी श्रद्धा है। गांव के मनुष्यों की आंखों में हमें भारत की संस्कृति की परछांयी दीखती है। हमारी यह श्रद्धा उनकी भलाई और समझशक्ति पर निर्धारित है। लोग कहते हैं कि हिंदुस्तान में भ्रष्टाचार फैला है और मनुष्य विगड गया है। परंतु मैं देखता हूं कि जनहृदय प्रेम से भरा है, बिगडा नहीं है। समाजरचना बिगडी है। बाहर से आयी हुई हवा है, जिसके कारण लोगों के जीवन में वह दोष आता है।

लोगों के हृदय में अच्छाई है, उसे वाहर लाने की कोशिश करनी चाहिए। और समाज का ढांचा बदलना चाहिए। मेरा विश्वास है कि बहुत सारे तूफान आयेंगे और जायेंगे, लेकिन भारत की जनता अपना सिर ऊपर कर के ही रहेगी।

प्रत्येक युग की अपनी-अपनी एक प्रेरणा होती है। आज के युग की प्रेरणा समानता की है। इसलिए योरप में जो आंदोलन शुरू हुआ, उनका नारा था, 'दुनिया के मजदूर एक हों।' पहली मई (मे-डे) सारी दुनिया में 'मजदूर-दिन' के नाते मनाया जाता है। हमने भी जो भूदान का काम उठाया है, वह मजदूर-आंदोलन ही है। जो सबसे कमजोर, बेजमीन और बेजबान हैं, उनका यह

आंदोलन है। अक्सर मजदूर-आंदोलन शहरों के ही होते हैं। गांव के मजदूर असंगठित, अजागृत और अशिक्षित हैं। जो सबसे नीचे के स्तर के होते हैं, उनका सवाल उठाना ही सर्वोदय और अहिंसा का तरीका है। सबसे अंतिम ऊपर उठ जाता है तो बाकी के भी ऊपर उठ जाते हैं। मध्यम-वर्ग का सवाल मैंने हाथ में नहीं लिया, इसी ख्याल से कि मैं एक वातावरण का निर्माण करना चाहता हूं, जिससे समता, न्याय, भूतदया और सहानुभूति की हवा फैले और बाकी के मसले अपने आप हल हो जायें।

भूदान-आंदोलन यदि मजदूर-आंदोलन है, तो मैं खुद भी अपने को एक मजदूर ही मानता हूं। मैंने अपने जीवन के 32 साल, 'बेस्ट इयर्स' भंगी-काम, बढ़ई-काम, कताई, खेती में बिताये। श्रम करने का गौरव और श्रम की कठिनाइयां, दोनों मुझे मालूम हैं। श्रमिकों की समस्या तब दूर होगी, जब सब लोगों की शक्ति 'श्री' पैदा करने में लगेगी।

सर्वोदय में समता और क्षमता

दुनिया में आज जिस तरह मजदूर-आंदोलन चल रहे हैं, वह तरीका योग्य नहीं है। उसमें मुझे क्रांतिकारिता नहीं दीखती। कुमारप्पाजी एकबार कह रहे थे कि इन आंदोलनों से अमरीका में मायनॉरिटी उदय (अल्पोदय) हो रहा है और रूस में मेजॉरिटी उदय (बहुजनोदय) हो रहा है, सर्वोदय कहीं नहीं है। मजदूरों के सवाल एकांगी और हिंसक तरीके से हल करने जायेंगे तो कभी

कामयाब नहीं हो सकेंगे। समता भी स्थापित हो और सब लोगों की विविध क्षमता की भी सुरक्षा हो, यह देखना होगा। हम समाज में से मालिक-मजदूर भेद ही मिटा देना चाहते हैं। पूंजीवादी समाजरचना में मालिक क्षमतावान है, व्यवस्था करना जानता है, जबकि कारीगर वर्ग अन्स्कील्ड (अक्षम) है, जिसे न ज्ञान है, न प्रतिष्ठा, न ध्येय। मालिक वर्ग केवल दिमाग का काम और मजदूर वर्ग केवल यंत्र का काम करता है। किसी को चाकू में छेद करने का काम दिया, तो वह जिंदगीभर रोजाना पांच हजार चाकुओं में छेद ही करता रहेगा। मालिक लोग कहते हैं कि इसमें क्षमता और कुशलता पैदा होती है। परंतु इससे मनुष्य का जीवन सर्वांगीण नहीं बनता। पूंजीवादी समाज में कुछ हैं हेड्स् (सिर) और कुछ हैं हॅण्डस् (हाथ)। इधर सारे सिर ही सिर, चाहे वे सिरजोर क्यों न हों, और उधर सारे हाथ ही हाथ। इस तरह का राहु-केतु का समाज, एक बाजू सिर, दूसरी बाजू धड ही धड, हमें नहीं चाहिए। हम मालिक-मजदूर भेद मिटा कर, मजदूर की श्रमशक्ति और मालिक की व्यवस्था-शक्ति, दोनों को बचा लेना चाहते हैं। हम समता भी लाना चाहते हैं और क्षमता भी खोना नहीं चाहते।

सहयोगी समाज का स्वरूप

वास्तव में शारीरिक और बौद्धिक श्रम का मूल्य समान ही होना चाहिए। जैसे हवा, पानी सबको समानरूप से मिलता है,

वैसे ही मजदूरी भी समान मिलनी चाहिए। नये साम्ययोगी समाज में मेहतर और राष्ट्रपति की मजदूरी समान होगी। इसके लिए लोगों के विचारों में परिवर्तन करना होगा। मंत्री और मेहतर का वेतन भी समान और दोनों की इज्जत भी समान होनी चाहिए। भगवान के यहां तो समान इज्जत है ही। इसी तरह सबको समान इज्जत और समान मजदूरी मिलेगी, तब सहयोगी समाज बनेगा। उस नाते जो पैदावार होगी, उसके हकदार सारे लोग होंगे।

हरएक के जीवन में कोई न कोई उत्पादक श्रम होना ही चाहिए। राष्ट्रपति को भी एक घंटा खेती करना चाहिए, तभी उनका विकास होगा। हमने एक सूत्र बनाया है – **श्रमसंजातवारिणा** (श्रम के पसीने से) मानव प्रकृति में सत्त्व, रज और तम ये त्रिगुण हैं। इनको काबू में रखना चाहिए। तमोगुण को अंकुश में रखने के लिए जो उपाय बताया गया, वह है शरीर-परिश्रम। श्रम कर के शरीर में से जो 'वारि' यानी पसीना निकलता है उससे प्रकृति के तमोगुण का शोधन करना होगा। गांधीजी ने एकादश व्रत में यह शरीरश्रम रखा। यह व्रत नया नहीं है। हमारे यहां दो शब्द हैं – ऋषि और ऋषभ। ऋषभ यानी जमीन को जोतनेवाला बैल, और ऋषि यानी उस बैल के पीछे-पीछे चलनेवाला किसान। उस समय, सबके लिए खेती करना आवश्यक माना जाता था। परंतु उत्पादक परिश्रम पर इतना जोर नहीं था। आज आर्थिक तंगी है, अर्थशास्त्र का दबाव पड रहा है, इसलिए हरएक मनुष्य को उत्पादक परिश्रम में हिस्सा लेना चाहिए।

समाज को विविध वर्गों में बांटना और फिर अपने स्वार्थ-हित की रक्षा के लिए संघर्ष का आश्रय लेना, इस प्रकार के आंदोलनों से समाज-परिवर्तन हुआ, ऐसा अनुभव नहीं आता। इसलिए मजदूर-आंदोलनों में संशोधन करने की आवश्यकता है।

इस दिशा में गांधीजी ने ट्रस्टीशिप का एक क्रांतिकारी विचार दिया था। यह एक व्यापक विचार है, जो जीवन-व्यवहार के विविध पहलुओं को छूता है। वह विचार सिर्फ पूंजीपतियों के लिए ही नहीं था। पूंजी, व्याज़, किराया, लाभ आदि के सवाल तक ही यह विचार सीमित नहीं है। आज कारखानेदार और मजदूर, दोनों अपने-अपने हित की सुरक्षा में लगे हैं। दोनों जो कुछ कमाते हैं, उस पर अपना अधिकार समझते हैं। अंतर इतना ही है कि एक अपनी बुद्धि से अधिक कमा लेता है और दूसरा मेहनत करने पर भी बहुत कम कमा पाता है। दोनों स्वार्थ के संघर्ष में हैं, जिसमें पूंजीपति विजयी और मजदूर परास्त होते हैं। इसलिए उन्हें स्वाभाविक ईर्ष्या होती है। परंतु उसके मानी यह नहीं कि मजदूर-वर्ग अपने से गरीब मजदूर में अपनी कमाई बांटेगा। यदि मजदूरों में भाई-चारा, सामाजिक भावना, एक-दूसरे के लिए त्याग करने की तैयारी आयेगी, तभी वास्तविक क्रांति हो सकती है। और डेढ़-सौ साल में जो फर्क नहीं आया, वह अभूतपूर्व परिवर्तन आ सकता है। शोषण में सहयोग नहीं देना चाहिए। परंतु सर्वोदय-विचार में दो वर्ग ही नहीं हैं। भारत के व्यापारी 'महाजन' कहलाते हैं। ट्रस्टीशिप का विचार अंगीकार कर के अपनी मिलकियत का 'ट्रस्ट' बना कर वे पिता की तरह हो जायेंगे, तो वास्तविक सर्वोदय होगा। पिता जब तक अपना बेटा बालिग

नहीं होता, तब तक बच्चों की देखभाल करता है और कोशिश करता है कि बेटा जल्द से जल्द तैयार हो जाये। उद्योगपतियों को यह भूमिका निभानी है।

वाणिज्य धर्म और ट्रस्टीशिप

शायद भारत ही ऐसा देश है कि जहां पर व्यापार एक सुव्यवस्थित धर्म माना गया है। प्रामाणिकता, सत्यनिष्ठा धर्म है, यह मानी हुई बात है। परंतु व्यापार ही स्वयमेव एक धर्म है, इस बात का भान इसी देश में समाज को कराया गया। गीता में कहा गया — **कृषि-गौरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्**। मतलब, शास्त्रकारों ने यह बात आदेश के तौर पर कही कि वैश्य का वाणिज्य एक स्वतंत्र धर्म है। कहा गया है कि निष्कामता और अनन्य प्रीति से वेद का अध्ययन करनेवाले मनुष्य को जो मोक्ष प्राप्त होता है, वैसा ही मोक्ष निष्काम और सेवा-बुद्धि से व्यापार करनेवाले वैश्य को भी प्राप्त होता है। मतलब, एक समाज-सेवा-परायण व्यापारी एक साधक और भक्त की श्रेणी में दाखिल है। इतनी जिम्मेवारी और प्रतिष्ठा भारत में धर्मशास्त्र द्वारा व्यापारियों को दी गयी।

हिंदुस्तान में जो आध्यात्मिक विचार चला, उसमें दयाभाव का विशेष अंश था। अन्य प्राणियों के लिए मानवों को प्रीति होनी चाहिए, इसलिए यहां के लोगों ने मांसाहार-परित्याग का प्रयोग किया। वह घटना दुनिया के दूसरे देशों में नहीं घटी। वहां व्यक्तिगत शाकाहारी लोग मिलेंगे, परंतु पूरी की पूरी जमात

मांसाहार- निवृत्त हुई हो, ऐसा नहीं दीखता। भारत में ऐसी जमातों में ज्यादातर वैश्य और व्यापारी हैं। यह अहिंसा और दया का विचार विशेषत: जैन धर्म में फैला और भक्तिमार्ग ने इसे उठा लिया। इसका व्यापारी वर्ग पर बहुत प्रभाव हुआ और उन्होंने मांसाहार छोड दिया। हम इसे छोटी बात नहीं समझते। यह एक महान प्रयोग है और इसके पीछे विशेष ही अनुभव है। शास्त्रकारों ने व्यापारियों के प्रति जो विश्वास दिखाया, उसका परिणाम हिंदुस्तान के व्यापारी-वर्ग पर इस तरह हुआ। साथ-साथ यह बात भी है कि हमारी समाजरचना, विशेषत: आर्थिक रचना इतनी गलत हो गयी है कि मनुष्य चाहे न चाहे, निष्ठुर बन जाता है। परंतु मांसाहार-त्याग दयाभाव का ही लक्षण है।

इस दयाभाव के उपरांत व्यापारीवर्ग में व्यवस्था-शक्ति भी है, जो सभी देशों के व्यापारियों की विशेषता है। तो सर्वत्र उपलब्ध व्यवस्थाशक्ति का गुण और अपने देश का विशेष दया का गुण, ये दोनों गुणोंवाले हमारे व्यापारी अपने देश के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं।

आज हमारी सरकार कहती है कि हमें समाजवादी रचना करनी है, इसवास्ते 'प्राइवेट सेक्टर' कम होना चाहिए और 'पब्लिक सेक्टर' वढना चाहिए। हम यह भेद समझ नहीं पाते। सर्वोदय में इस विचार की कोई कीमत नहीं है। अगर कोई हमसे पूछे कि हाथ के काम को ज्यादा महत्त्व है या उंगली के काम को, तो हम क्या जवाव देंगे? यह जो हाथ है वह 'पब्लिक सेक्टर' है और अंगुलियां 'प्राइवेट सेक्टर' हैं। अगर व्यापारी की करुणाबुद्धि और

व्यवस्थाशक्ति लोगों की सेवा में लगती है, तो वे जो भी खानगी काम करेंगे, वे पूरे तौर पर सामूहिक होंगे।

इससे व्यापारियों को डरने की कोई जरूरत नहीं है। उन्हें आगे आ कर कहना चाहिए कि आप क्या समाजवादी रचना करेंगे? वह रचना तो हम करनेवाले हैं। हम अपने कुल उद्योग सेवा के लिए करेंगे। हमारे पेट के लिए जितना मेहनताना चाहिए, उतना लेंगे। उसका भी हिसाब हम जनता के सामने पेश करेंगे और जनता की टीका में जो सत्य होगा, उसे दुरुस्त करने तैयार रहेंगे।

एक व्यापारी भाई ने मुझे कहा था कि यह बात हमारे लिए कठिन नहीं है क्योंकि हमारा जीवन काफी सादगी से चलता है। दुनिया के व्यापारी जैसे ऐशो-आराम और शान-शौकत से रहते हैं, वैसे हम नहीं रहते। हिंदुस्तान के व्यापारियों की यह सादगी और एक विशेषता है।

बडे-बडे उद्योग यदि दो-पांच लोगों के हाथ में हों, तो उसमें जोखिम है। खानगी मालिकी होगी, तभी मालिकों को प्रेरणा मिलेगी, यह मानना बिलकुल खुला अधर्म-विचार है। जैसे जमीन की मिलकियत गांव की हो, वैसे बडे-बडे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो, उसी को मैं धर्मव्यवस्था मानता हूं। अपने पास जो बुद्धि, संपत्ति है, वह समाज के लिए है, ऐसा धर्म-विचार फैलेगा, तो सबकी अकल का लाभ राष्ट्र को मिलेगा। इसलिए अब उद्योग-पतियों को आगे आ कर अपने उद्योग का ट्रस्ट बना कर अपनी शक्ति का उपयोग देश के लाभ में करना चाहिए। यह 'ट्रस्ट'

यानी विश्वसनीयता है। शास्त्रकारों ने महाजनों की इतनी प्रतिष्ठा की है, उनके बिना किसी का काम नहीं चलता, उनके मन में करुणा है, व्यवस्थाशक्ति और सादगी है, फिर भी आज उन्हें गालियां मिलती हैं। ऐसा क्यों, इसका चिंतन व्यापारियों को करना चाहिए। हिंदुस्तान के व्यापारियों के सामने एक मौका है। वैश्यवृत्ति को करुणा का राज्य बनाने का मौका है।

विश्वास : तीसरी शक्ति

विश्वासशक्ति के बिना साम्ययोग की स्थापना ही नहीं होगी। एक जमाना था जब भारत में महाजनों पर विश्वास था। किसी के पास पांच हजार रुपये हैं, उसको बद्रीकेदार जाना है, वह महाजन के पास रख देता था। दो साल के बाद वह जब वापस आयेगा तब महाजन उसे मूल रकम के साथ उसका व्याज भी देता था और यात्रा कर के आया है इसलिए प्रणाम भी करता था। और यदि वह वापस आया ही नहीं तो उसके लडकों को बुला कर पूरी रकम व्याजसहित दे देता था। यह भारत की संस्कृति है। भारत में महाजनों पर अत्यंत विश्वास था। समाज के विविध घटकों के बीच अन्योन्य विश्वास ही दुनिया के बचाव के लिए साधन है। इसी लिए हमने कहा है –

"वेदांतो विज्ञानं विश्वासश्चेति शक्तयस्तिस्र: . . ."

'ट्रस्ट' के लिए संस्कृत शब्द है – विश्वास। और 'ट्रस्टीशिप' को कहेंगे विश्वस्त-वृत्ति। महाजनों की शक्ति बढेगी, विश्वास शक्ति से।

मैंने महाजनों के लिए एक समीकरण बनाया है। आज चर्चा चलती है दुनिया में, एक प्राइवेट सेक्टर और एक पब्लिक सेक्टर। प्राइवेट सेक्टर 50% है। पब्लिक सेक्टर 50% है। और 50 + 50 = 100। देश की प्रगति ज्यादा होगी तो क्या होगा ? प्राइवेट सेक्टर 40% पब्लिक सेक्टर 60%। 40 और 60 मिल कर 100 होगा। इस तरह होते-होते आखिर 0 + 100 = 100 होगा। यह आदर्श है। यानी तब प्राइवेट सेक्टर जीरो शून्य हो जायेगा, बिग जीरो (बड़ा शून्य), छोटा जीरो नहीं। और पब्लिक सेक्टर 100 होगा। यह आज की चिंतन पद्धति है। लेकिन मेरा अरिथमॅटिक दूसरा है। मैं गणितशास्त्र उत्तम जानता हूं। मैंने गणित किया है, 100 + 100 = 100। प्राइवेट सेक्टर 100 होना चाहिए और पब्लिक सेक्टर भी 100 होना चाहिए। और दोनों मिल कर 100 हो। मतलब, प्राइवेट सेक्टर ही पब्लिक सेक्टर हो जाये। इसी के लिए ट्रस्टीशिप का विचार आया।

ट्रस्टीशिप के विचार में संपूर्ण वैचारिक क्रांति निहित है। हमारी सारी शक्ति समाज को समर्पित कर के अपनी आवश्यकता के मुताबिक लेना, यह साम्ययोग है। सेवा की कीमत पैसे से नहीं की जाती। मां की सेवा का पैसे में क्या मूल्य करेंगे ? आज समाज में 'पैसा-पैसा' हो रहा है, साथ-साथ पैसे का मूल्य घट रहा है। ये सारे नासिक में छपनेवाले पैसे – क्रियेटेड मनि – हैं, जिसे संस्कृत में **लोभमूलानि पापानि** कहा है। पैसा पापमूलक है। पाप का कारण लोभ है। इससे हमें मुक्त होना चाहिए।

साम्ययोग की अर्थनीति

भारत कृषिप्रधान देश है। इस देश की अर्थनीति मुख्यतः ग्रामीण अर्थनीति होगी। मैं अर्थशास्त्र के शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से सोचता हूं। मेरा मन प्रतिबद्ध नहीं है। गांधीवादी दृष्टिकोण को, वैसे ही व्यक्तिगत आजादी आदि बातें भी थोडी देर छोडने को राजी हो जाऊंगा, परंतु जहां तक पांच हजार साल के पुराने देहातों की बात है और वे आज भी बिलकुल अपनी जगह पर हैं, तब गांव के स्थान पर शहर बनाने की बात यहां हो नहीं सकती। गांवों का अपना स्थान है और वे अपने स्थान पर ही रहनेवाले हैं। हां, दो-तीन गांव इकट्ठे हो कर एक गांव हो जाये तो अलग बात, लेकिन देहात संपूर्णतः मिट जाये और पांच हजार की तादाद से कम कोई छोटा गांव हो ही नहीं, यह तो निकट के भविष्य में संभव नहीं दीखता।

भारत में खेती के लिए छोटे गांव अनिवार्य हैं। खेती के नजदीक घर हो, यह देखना पडता है। आठ मील आने-जाने में ।र देखरेख का अलग समय देना पडे तो खेती अच्छी नहीं होती। ।ांव तोड कर शहर बनाने से शहरवालों पर वह हमला माना जायेगा और उससे खुद शहरवालों की हालत और भी खराब होगी और गांववालों का भी शोषण ही होगा, पोषण नहीं। इसलिए देहातों को अपनी जगह रख कर ही उद्योगों का सोचना होगा।

साम्ययोग की अर्थनीति मुख्यतः ग्रामीण अर्थनीति होगी और वह भी 'कृष्ण की अर्थनीति' होगी। मतलब कि गांव की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति गांव में ही हो। उनके लिए गांव को परावलंबी न होना पडे। मक्खन बेच कर मथुरा से पैसा लाने की नीति नहीं, गांवका पोषण गांव में ही रहे यह कृष्ण की अर्थनीति है।

आर्थिक समस्या के बारे में मैं हमेशा समझौते के लिए तैयार रहता हूं। वह गणित जैसा शास्त्र नहीं है। उसमें जो कुछ करना होता है, वह दिमाग साफ रख कर करना होता है। ग्रामोद्योग, खादी आज की परिस्थिति की अनिवार्यता है, सिवा कि हम तय करें कि इतने गरीब लोगों को साफ ही कर देना है। अन्यथा उनके लिए कुछ न कुछ काम ढूंढना ही होगा, जो सिवा ग्रामोद्योग के दूसरा हो नहीं सकता। दूसरी बात, इसमें उधारी नहीं चल सकती। जो भूखा है, उसको आज के आज ही खाना मिलना चाहिए। फिर उनको इतना ही खाना मिले, जिससे 'कीपिंग बॉडी अॅण्ड सोल टुगेदर' – शरीर और आत्मा एकसाथ रहे, जिससे आज वह मरे नहीं यह मुझे 'ह्युमॅनिटेरियन अॅप्रोच' (मानवीय अभिगम) नहीं, 'अॅनिमल अॅप्रोच' (पाशवी अभिगम) दीखता है। मानवीय अभिगम में तो मानवमूल्य कायम रहने चाहिए। बेकारी का भत्ता देने की जो बात है, उससे तो मनुष्य नैतिक दृष्टि से गिरता है। मानवीय उसको कहा जायेगा, जिसमें उसकी दीनता रहती नहीं और उसकी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसलिए हम भिक्षा की बात नहीं, उद्योग खडे करने की बात करते हैं। गांव में जो कच्चा माल तैयार होता है, उसका पक्का माल गांव में ही पैदा हो।

तकनीकीयुग में यंत्र विवेक

यह विज्ञानयुग है। रोजमर्रा नये-नये आविष्कार हो रहे हैं। नये-नये यंत्र पेश हो रहे हैं। स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि सर्वोदय

विचारधारा में ग्रामोद्योग और यंत्रोद्योग में विरोध है या सर्वोदय यंत्र के विरुद्ध है ?

इसमें एक बात समझना जरूरी है कि यंत्र अलग है और विज्ञान अलग है। विज्ञान का तो हमें सदा स्वागत ही है, परंतु यंत्र में विवेक करना होगा। यंत्र तीन प्रकार के हैं – एक, संहारक यंत्र; दूसरा, समयसाधक यंत्र और तीसरा, उत्पादक यंत्र।

संहारक यंत्र यानी मशीनगन्स, तोपें, जिनका उपयोग मानव-संहार में ही होता है। सर्वोदय विचारधारा में ऐसे संहारक यंत्रों के लिए अवकाश नहीं। इसका सर्वथा विरोध ही है।

समयसाधक यंत्र संहार भी नहीं करते, उत्पादन भी नहीं करते, वे समय बचाते हैं। जैसे मोटर, रेल्वे, हवाई जहाज इन सबका हमें कोई विरोध नहीं! रॉकेट भी हमें मान्य है। समयसाधक यंत्र सर्वथा मान्य है।

उत्पादक यंत्र दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार, श्रम की पूर्ति करते हैं, हमारे हाथों से जो काम हम नहीं कर सकते हैं, वह करने में सहायता देते हैं। उनका नाम है – पूरक यंत्र। हम हाथों से सूत नहीं कात सकते, तकली, चरखा या अंबर होगा तो हमारे श्रम की पूर्ति होगी। ऐसे पूरक यंत्र का हमें स्वागत है। कुछ यंत्र उत्पादन ज्यादा करते हैं, परंतु मजदूरों को कम करते हैं। वैसे यंत्र मारक हैं। जाहिर है, मारक यंत्र को सर्वोदय में स्थान नहीं होगा।

कौनसा यंत्र पूरक है और कौनसा मारक है इसका निर्णय देश-काल की परिस्थिति के अनुसार बदलेगा। अमरीका में जो यंत्र पूरक होगा, वह भारत में मारक हो सकता है। आज जो यंत्र मारक होगा, वह कल पूरक भी हो सकता है। इसका रूप काल-मानानुरूप, स्थलमानानुरूप और परिस्थिति के अनुरूप बदलेगा।

ब्रह्मविद्या मजदूरी के क्षेत्र में

अब जो युग आनेवाला है, वह श्रमिकों का युग, श्रमनिष्ठा का युग होगा। श्रम को अब सामाजिक, आर्थिक, नैतिक प्रतिष्ठा मिलेगी, इतना ही नहीं ब्रह्मविद्या को भी अब श्रम के रणांगण में दाखिल होना होगा। प्रारंभ में ब्रह्मविद्या अरण्य में थी, वहां जंगल छेदन का काम चला, फिर भगवान श्रीकृष्ण हुए और वह रणांगण में आयी, अब इस युग में उसको मजदूरी के क्षेत्र में उतरना होगा, यह ब्रह्मविद्या का आज का युगकार्य है।

पुराणों में वर्णन आता है कि सारी पृथ्वी का बोज शेषनाग पर है। समाज का शेषनाग श्रमिक है, उसके आधार पर आज सारा मानवजीवन चल रहा है। आज समाज में श्रम नहीं है, सो बात नहीं, श्रम तो चल ही रहा है, परंतु वह लाचारी की, मजबूरी की मेहनत है। कोई नहीं चाहता कि उसका बेटा श्रम करे। इसका कारण यह है कि समाज में श्रम को आज प्रतिष्ठा नहीं है। खेत में श्रम करनेवाले को गद्दी पर नहीं बिठाते। इतना ही नहीं, श्रम करनेवाले को निम्न माना जाता है। इस अन्याय को मिटाना होगा। गिबन ने लिखा है कि 'जबसे रोम में शरीर-श्रम को नीचा मानने लगे, तबसे रोम गिरा।' यह सबसे बडा अन्याय है। श्रम करनेवाले को निम्न मान कर उसको मजदूरी भी कम देना और श्रम टाल कर केवल बुद्धि का उपयोग करनेवाले को ज्यादा वेतन देना, इसके सामने तो मेरा आत्मा विद्रोह पुकारता है। आजकल विद्वान लोग अधिक वेतन मांगते हैं, अजीब बात है। समाज ने उनके शिक्षण पर खर्च किया और फिर भी वे कहते हैं कि हमें ज्यादा वेतन दीजिए।

तीसरी शक्ति की उपासना

हम किसी देश-विशेष के अभिमानी नहीं। किसी भी धर्म-विशेष के आग्रही नहीं। किसी भी संप्रदाय में या जाति-विशेष में बद्ध नहीं। विश्व में उपलब्ध सद्विचारों के उद्यान में विहार करना – यह हमारा स्वाध्याय। सद्विचारों को आत्मसात् करना – यह हमारा धर्म। विविध विशेषताओं में सामंजस्य प्रस्थापित करना, विश्व-वृत्ति का विकास करना, यह हमारी वैचारिक साधना।

सर्वोदय जैसी हृदय-परिवर्तन का दावा करनेवाली विचार-पद्धति जिन्होंने अपना ली, उन लोगों ने शंकराचार्य, बुद्ध, गांधी जैसे पुराने संतों से भी अधिक गहराई में जाने की प्रतिज्ञा की। समाज-रचना बदलनी है. पूरा का पूरा जीवन-परिवर्तन करना है, नया विश्व-मानव बनाना है, यह तो ब्रह्मदेव की भाषा है! किसी सामान्य प्राणी की नहीं। ऐसी भाषा जब हम बोलते हैं तो हमें आध्यात्मिक गहराई में जाना होगा। हम गहराई में नहीं जाते हैं, आत्मतत्त्व का संशोधन, स्वाध्याय नहीं करते हैं, तो अपनी अपेक्षित कल्पना से उलटे परिणाम लानेवाले साबित हो सकते हैं।

*

सामाजिक जीवन में हम कौन हैं, इसका जवाब खोजते हैं तो जिसे 'तीसरी-शक्ति' कहते हैं, वे हम हैं। तीसरी शक्ति अर्थात् हिंसाशक्ति की विरोधी और दंडशक्ति से भिन्न जनशक्ति। महाभारत में राजसूय यज्ञ का वर्णन है। मेरा यज्ञ प्रजासूय यज्ञ है। इसमें प्रजा का अभिषेक होगा। अश्वमेध-यज्ञ के घोडे की तरह मैं भी भूदानयज्ञ का अश्व घूम रहा हूं। मेरा आराध्यदेव जनता-जनार्दन है। जनता की शक्ति मेरी शक्ति है। जनता की शक्ति को ही नारायणी शक्ति कहा है।

जनता की शक्ति मुख्य शक्ति है। जनशक्ति कुआं है और शासनशक्ति बालटी है। कुएं में पानी होगा, तब बालटी में पानी आयेगा। इसी लिए जनशक्ति वढाना, जनशक्ति में तेज भरना — यही मैंने मेरा मुख्य कार्य माना। लोकसत्ता में केंद्रस्थ शक्ति 'लोक' की होनी चाहिए। विचारबीज जब लोक-हृदय में गहरा उतर जाता है, तव सरकार को उस पर अमल करना होता है। हम चाहते हैं कि जनता का कर्तृत्व बढे। वह **स्वतंत्रः कर्ता** बने। स्वराज्य के पहले यह मौका नहीं था। अब अपनी ताकत से कोई मसला जनता हल करेगी, तो उसे आत्मशक्ति का भान होगा।

गांधीजी से हमें जो अहिंसा का विचार मिला, वह सारी दुनिया के लिए एक शाश्वत, चिरस्थायी और मुक्तिदायी विचार है। लेकिन हमारे लिए तो अहिंसा अपने देश की भाषा ही है।

हिंसाशक्ति की विरोधी, दंडशक्ति से भिन्न ऐसी तीसरी शक्ति खडी करने का एक महान कार्य हमारे सामने उपस्थित हुआ। यह कार्य कौन करेगा? संगठन में हमारा विश्वास नहीं, संचित निधि को तो हम निधन ही मानते हैं। फिर यह कार्य खड़ा कैसे होगा?

इसका कर्ता कौन ? इसके लिए हमने सर्वोदय समाज की कल्पना रखी। 'संघ' शब्द में व्यापकता की कमी है। 'समाज' शब्द व्यापक है। जो भी कहेगा कि मैं सर्वोदय समाज का सदस्य हूं, वह इसमें शामिल है।

ऐसे व्यापक समाज के अंतर्गत शांतिसेना, सेवासेना, आचार्यकुल, स्त्री-शक्ति आदि की बातें आयीं, वे भी कर्ता के तौर पर ही हैं। समाज की जो सर्वोच्च नैतिक शक्ति होगी, वह तटस्थ, और निर्भय, निर्वैर, निष्पक्ष शक्ति होगी। इनको सत्य-अहिंसा पर विश्वास होगा, और ये पंथ-भाषा-जाति आदि भेदों से ऊपर उठे हुए लोग होंगे, ये सारे लोग तीसरी शक्ति की स्थापना करनेवाले 'कर्ता' होंगे। उनका एक व्यापक परिवार होगा। परस्पर मैत्री का संबंध बढाते हुए यह परिवार उत्तरोत्तर बढ़ता जाये ऐसी उम्मीद है।

पंचशक्ति-सहयोग

यह जो कर्ता यानी तीसरी शक्ति होगी, वह विविध शक्तियों की मदद ले कर काम करेगी। संघर्ष की पद्धति की जगह उसकी सहयोग की पद्धति होगी। समाज में पांच विविध शक्तियां हैं, हाथ की पांच उंगलियों के समान। और उन पांचों शक्तियों में उत्तम सहयोग होना चाहिए। व्यक्ति और समाज के स्वास्थ्य के लिए, पुष्टि और शांति के लिए अत्यंत आवश्यक है इन पांचों शक्तियों का उत्थान और सहयोग।

इन शक्तियों में पहली शक्ति है अंगुष्ठ, अंगूठा। वह मजबूत होता है। उसे मैंने नाम दिया है, जन-शक्ति। जन-शक्ति मजबूत

खडी हो इस सिलसिले में मैंने बहुत चिंतन किया है। अगर हम जन-शक्ति खडी करना चाहते हैं, तो भूमि-समस्या अहिंसा और सत्य के आधार पर सुलझनी चाहिए। हमने उसके लिए भी कोशिश की।

दूसरी बात है, चित्त की प्रेरणा शक्ति। वह है छोटी उंगली, उसका नाम रखा है, **सज्जन-शक्ति**। वैसे तो सज्जन कौन और दुर्जन कौन यह भगवान ही जानता है। फिर भी सज्जनों की जमात खडी होगी और वह मददगार होगी। भारत में सात्त्विक सज्जन लोग तो बहुत हैं, परंतु वे समाज से अलग रहना चाहते हैं। समाज में काम करना होता है, उसमें रजोगुण चाहिए, तो सत्त्वगुणी लोग उससे दूर रहते हैं। इसके कारण सत्त्वगुण में कायरता आ गयी है। आज के सत्त्वगुण में तमोगुण मिश्रित हो गया है।

समाज में जो दुर्जन लोग हैं, वे एकदम एकत्र और संगठित हो जाते हैं, जबकि सज्जनता निष्क्रिय और असंगठित रहती है। सब सज्जनों को सक्रिय और संगठित बनना होगा और उनको बाजार में आना होगा। जब तक धर्म मंदिर, मठ, मस्जिद में ही कैद रहेगा और बाजार में नहीं आयेगा, तब तक धर्म की शक्ति नहीं बनेगी। आज धर्म डरपोक बन कर मंदिर में बैठा रहता है। अब उसे आक्रमण करना चाहिए और बाजार में, व्यवहार में, धर्म लाना चाहिए। रजोगुण की पटरी पर सत्त्वगुण का इंजिन, तमोगुण के डिब्बे लिये चलेगा तो तीनों गुणों का उपयोग हो सकेगा। इसलिए सज्जनों को अब संगठित हो कर मार्गदर्शन के लिए आगे आना चाहिए।

तीसरी है तर्जनी । किसी को मार्ग दिखाना हो तो इस तर्जनी का उपयोग करते हैं । वह मार्गदर्शक उंगली है । यह है विद्वद् जन-शक्ति । विद्वानों की शक्ति, जो कि सबको तटस्थ मार्गदर्शन करती है । जाति, धर्म, पंथ, भाषा, पक्ष, प्रांत इन सबका अस्त यानी सर्वोदय । इन सबसे मुक्त हृदय रखनेवाली, दुनिया का मार्गदर्शन करनेवाली विद्वद् जन-शक्ति खडी करने के लिए मैंने 'आचार्य-कुल' की स्थापना की ।

चौथी है **महाजन-शक्ति** । व्यापारी वर्ग छोटे-बडे उद्योगपति, (इंडस्ट्रिअॅलिस्ट) छोटे-बडे कारखानेदार, छोटे-बडे व्यापारी इन सबको मिला कर एक शब्द है. महाजन । **महाजनो येन गतः स पंथः** । जिस रास्ते से महाजन जाते हैं, उसी रास्ते से दुनिया को चलना है । महाजनों को 'श्रेष्ठ' नाम भी दिया गया और कहा, **यद् यद् आचरति श्रेष्ठः तत् तत् एव इतरो जनः** । श्रेष्ठ जैसा व्यवहार करेंगे, वैसा दूसरे लोग व्यवहार करेंगे । श्रेष्ठ का ही अपभ्रंश 'सेठ' है । महाजन-शक्ति यानी हमारी बीच की सबसे बडी मध्यमा उंगली ।

पांचवी उंगली है, अनामिका । यानी केवल नाम मात्र की । उसका काम है, सब उंगलियों के साथ सहयोग करना । बाकी उंगलियों को अपना-अपना स्वतंत्र कार्य है । इसका कोई स्वतंत्र कार्य नहीं है । सबके साथ सहयोग कर के गौणरूप से काम करना, बचा-खुचा थोडा संयोजन करने का काम करना इसका कार्य है । इसका नाम है, **शासन-शक्ति** । चार शक्तियां मिल कर जो कुछ काम होता है, उसमें जो कमी रह जायेगी, उसकी पूर्ति के लिए वह शक्ति काम करेगी ।

आजकल हम अहिंसा का नकारात्मक अर्थ ही समझते हैं। अहिंसा यानी हिंसा न करना। परंतु इतना ही निगेटीव (नकारात्मक) अर्थ नहीं है। इसके तीन अर्थ हैं। पहला अर्थ है, निर्भय या निडर बनना; दूसरा है प्रेम और सहयोग करना। तीसरा अर्थ है, रचनात्मक कार्य में श्रद्धा रखना। ये तीनों बातें करेंगे तभी हमारी ताकत सच्चे अर्थ में बढ़ेगी।

भारत वैविध्यपूर्ण देश है। उसको एक बनाये रखने के लिए प्रेम और सहयोग की पद्धति ही काम आयेगी।

अहिंसक-क्रांति के पांच घटक

गीता ने पंचविध प्रक्रिया दिखलायी है, **अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्** (कर्म को कार्यान्वित करनेवाले पांच घटक हैं, अधिष्ठान, कर्ता, विविध साधन, भिन्न-भिन्न अनेक हलचलें और पांचवा है, दैव)।

सबसे पहले चाहिए अधिष्ठान! इमारत खडी करनी हो तो बुनियाद चाहिए। चित्र रेखांकित करना हो तो कागज चाहिए। तो अहिंसा की यानी, अधिष्ठान की तलाश में हम थे। ईश्वरकृपा से हमें भूदानयज्ञ का अधिष्ठान मिल गया, जिसके आधार पर सारा सर्वोदय समाज खडा कर सके ऐसी राह मिल गयी। सारे देश में एक व्यापक लोकक्रांति के तौर पर अपने पास जो कुछ था उसका एक हिस्सा समाज को दे कर 'यज्ञ' करने का वह एक बुनियादी काम था। इसी लिए हमने जो सूत्र दिया, भूदानमूलक

ग्रामोद्योगप्रधान अहिंसक क्रांति, उसमें 'मूल' अर्थात् बुनियाद 'भूदान-यज्ञ' को कहा ।

फिर आता है, करणं च पृथग्विधम् । क्रांति के लिए तरह-तरह के साधन चाहिए । लेकिन उन साधनों में भी क्रांति चाहिए। हमारे साधन शुद्ध ही होने चाहिए । यह एक क्रांतिकारी सिद्धांत है । हमें यह प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि हम सत्य-अहिंसा से ही काम लेंगे । हमारी अहिंसक क्रांति के लिए साधनशुद्धि अनिवार्य है । हमारे लिए यह अनुकूल भी है । हिंदुस्तान एक बहुत प्राचीन राष्ट्र है । हमने प्रागैतिहासिक काल में जो अनेक प्रयोग किये, उसके कारण हमारा स्वभाव विशेष अहिंसक बन रहा है । यह हमारा परिस्थिति-सिद्ध स्वभाव है । हिंसा के जो प्रयोग आज योरप कर रहा है, वे हमारे यहां पहले ही हो चुके हैं । उन्हीं का परिणाम यह हुआ कि अहिंसा हमारे खून में दाखिल हो गयी । अगर उसकी परवरिश नहीं करेंगे, तो हमारी हजारों वर्षों की साधना व्यर्थ जायेगी । इसलिए हमारा समाज-परिवर्तन का काम केवल शुद्ध साधनों से ही हो, इसका हमें आग्रह रखना चाहिए ।

फिर अन्य साधनों की भी जरूरत होती है । काम चलाने के लिए संपत्ति चाहिए । इधर तो हमने 'निधि-मुक्ति' घोषित की है, तब फिर काम कैसे चलेगा ? इसलिए हमने संपत्तिदान का विचार चलाया है । भगवान ने जो संपत्ति दी है, उसका एक अंश समाज को समर्पण कर के बचे हुए का भोग भोगना, यह है संपत्तिदान का विचार । राज्यकारोबार के कामों के लिए सरकार लोगों से लगान लेती है । वैसे ही लोकनीति में संपत्तिदान है । यह ऐच्छिक है ।

परंतु ऐच्छिक लाजमी से भी अधिक 'लाजमी' होता है। इसके अलावा हमने सर्वोदय-पात्र में छोटे बच्चे के द्वारा मुठ्ठीभर अनाज हर घर से मांगा है। पांच हजार घर के बीच एक सेवक काम करेगा, तो उसको यह जनाधार मिल जायेगा, जिससे केंद्रीय संचित निधि का उपयोग उसे नहीं करना पडेगा। इसके अलावा, घर-घर से एक मुठ्ठी अनाज यानी विश्वशांति का मतदान हो गया तो वह संम्मतिदान माना जायेगा।

फिर श्लोक में आया है, **विविधाश्च पृथक् चेष्टा**। पूर्ति में विविध कार्य करने होते हैं। अहिंसक समाज रचना के लिए खादी-ग्रामोद्योग, जातिभेद-निरसन, शिक्षा में क्रांति, स्त्री-शक्ति, आचार्यकुल ऐसे अनेक कार्यक्रम हैं। इसके अलावा रचनात्मक कार्यक्रम भी हैं।

कांतना - राष्ट्रीय उपासना

गांधीजी ने हमें अष्टादशविध रचनात्मक कार्यक्रम सुझाये हैं। परंतु एक बात समझने की जरूरत है कि हमारे सारे रचनात्मक कार्य यदि सरकाराश्रित ही रहेंगे, तो टिकनेवाले नहीं हैं। रचनात्मक कार्य लोकशक्ति के आधार से चलाने होंगे। खादी आज सम्राज्ञी के तौर पर नहीं, दासी के तौर पर है। सरकारी संरक्षण के ऑक्सीजन पर वह चलती है। सरकार इधर आपको सबसिडि भी

देगी और उधर आपके कार्य को खतम करनेवाले कामों में भी मदद देगी।

खादी वस्त्र नहीं, एक विचार है। कुछ लोगों को दुःख है कि खादी का प्रचार जितना होना चाहिए, उतना नहीं होता। परंतु समझना चाहिए कि खादी बीडी का बंडल या लिप्टन की चाय नहीं है। आग लगाने में देर नहीं लगती लेकिन गांव बसाना हो तो कितना समय लगेगा? खादी प्रवर्तन का काम है, विध्वंस का नहीं। खादी को आज प्रतिकूल कालप्रवाह पर चढना है। इसलिए खादी की यदि मिल के कपडे से तुलना करेंगे तो वह मिल में मिल जायेगी, यानी मर जायेगी। इसके विपरीत, उसे तो यही कहना चाहिए कि "मैं मिल की तुलना में सस्ती नहीं, महंगी हूं। मैं कीमती हूं। जो विचारशील मनुष्य हैं, उन्हीं को अलंकृत करती हूं। सिर्फ शरीर ढांकने नहीं, आपका मन भी हरने आयी हूं।" खादी मौजूदा विचारों की विरोधिनी होने के कारण खादी पहननेवालों की गणना आज पागलों में होगी।

पुराना चरखा लाचारी का चरखा था। हमारा चरखा मिलों का पूरक नहीं है, जो मिलों का स्थान मान्य कर के उनके कारण पैदा हुई बेकारी की समस्या तात्कालिक सहायता के रूप में हल करने का ढोंग करे। हमारा चरखा नवयुग का संदेशवाहक है। ग्रामस्वराज्य और रामराज्य का प्रतिनिधि है। खादी का संबंध ग्रामस्वराज्य से है।

मेरी यात्रा गुजरात में चल रही थी, तब खंबात में मुझे जहाज में बैठना पडा। हमको कहा गया कि रात को चंद्रोदय होने के बाद

पानी आयेगा, तब जहाज चलेगा। सुबह मैं जग गया, तब जहाज चलने लगा था, क्योंकि पानी आ गया था। रचनात्मक कार्य जहाज जैसा है। नीचे पानी न होने के कारण वह आज चल नहीं रहा, स्थिर है। क्रांति का पानी आयेगा तब वह चलने लगेगा। रचनात्मक कार्यों में प्राण तभी आयेगा, जब समाज के मूल्य बदलेंगे, अन्यथा वे राहत के कार्य जैसे चलेंगे। हमें क्रांति कार्य के अनुसंधान में रचनात्मक कार्यक्रम चलाने चाहिए।

रचनात्मक कार्य में लगी जमात क्रांति की अग्रदूत है ऐसा हम समझते हैं। हमसे कभी पूछा जाता है कि आप भूदान का काम करते हैं तो रचनात्मक कार्य की महिमा गौण क्यों समझते हैं? परंतु कोई किसान खेती का काम छोड कर खेती के लिए कुआं खोदना शुरू कर दें तो यह नहीं कहा जायेगा कि उसने खेती छोड दी। कुएं के बिना खेती सूख रही थी, इसलिए कुआं खोदना अनिवार्य था। भूदान का काम कुआं खोदने का काम है और रचनात्मक कार्य खेती।

हमारे सारे कामों में समग्रता आनी चाहिए। समग्रता का अर्थ अलग-अलग चार टुकडे की सिलाई नहीं है। समग्रता है बुनाई की प्रक्रिया। सारे रचनात्मक कार्यक्रम परस्पर में ओतप्रोत होने चाहिए। उसी से ताकत बनेगी। गांधीजी ने मीराबाई का एक भजन बताया था – **काचेरे तांतणे मनें हरिजीए बांधी, जेम ताणे तेम तेमनी रे!** ‘एक कच्चा धागा है, उस कच्चे धागे से मुझे बांधा है और वह इतना मजबूत है कि उसके बल से भगवान मुझे खींचता है, मैं भी उसकी ओर खींची जाती हूं।’

देश के सामने एक ऐसी उपासना चाहिए कि देश के लिए बच्चा-बच्चा कहे कि हम कुछ करते हैं। धार्मिक, पांथिक उपासनाएं भेद करती हैं। पर सारे राष्ट्र में अभेद पैदा करनेवाली उपासना होनी चाहिए। इसका विचार कर उन्होंने कातने की उपासना हमें बतायी। कमजोर, बीमार मनुष्य भी उत्पादक बन सके ऐसा एक सुंदर औजार गांधीजी ने हमारे सामने रखा। और कहा कि यही राष्ट्रीय उपासना है। हम तो मानते हैं कि इंग्लैंड में जैसे प्रत्येक बच्चे को तैरना आना चाहिए ऐसा माना जाता है, क्योंकि वहां की भौगोलिक परिस्थिति में चारों ओर पानी है, उसी तरह भारत की सामाजिक परिस्थिति में प्रत्येक बच्चे को कातना आना ही चाहिए। यह हमारी राष्ट्रीय उपासना हो जानी चाहिए। गांधीजी ने कहा था कि काते सो पहने। पहने सो काते। खादी तो हमारी राष्ट्रीय पोषाक है।

मैंने कई दफा कहा है कि खादी और गादी की लडाई है। लेकिन हमने खादी को गादी के साथ जोड दिया है। जिधर देखो उधर सरकारी मदद चल रही है। एक जगह खादी पैदा होती है, दूसरी जगह बेची जाती है। खादी आज बाजार की चीज हो गयी। बिहार में करोडों रुपयों की खादी उत्पन्न होती है। मजदूर-युनियन भी बने हुए हैं। वहां मामला-मुकद्मा का एक स्वतंत्र खाता है। यह खादी नहीं है।

खादी तो ग्रामाभिमुख होगी। गांव-गांव कपडे में स्वावलंबी हो, उस वास्ते ग्राम संकल्प करें, इस दिशा में प्रयत्न होने चाहिए। फिर चाहे स्वावलंबन अंबर चरखे द्वारा हो या तकली द्वारा।

मनुष्य रोज आधा घंटा तकली चलाये तो सालभर का कपडा पैदा होता है। लेकिन अंबर से स्वावलंबन सधे तो भी अच्छा है। अन्यथा सरकारी मदद लेना, खादी वेचते जाना, खरीदते जाना और इतने-इतने लोगों को मजदूरी मिली इसका हिसाव पेश करना यह सव व्यर्थ है।

स्वराज्य में नयी तालीम

अहिंसक समाजरचना के लिए जव हम कोशिश करते हैं, तो स्वाभाविक ही हमारी प्रचलित शिक्षा में भी अहिंसक क्रांति लाना अनिवार्य हो जाता है। जैसे नया राज्य आता है तो पुराना झंडा नहीं चलता, वैसे अब स्वराज्य के वाद वही पुरानी तालीम चलती रहे तो काम नहीं वनेगा।

शिक्षा से मुख्य अपेक्षा यह है कि उससे विद्यार्थियों की प्रज्ञा स्वयंभू वने और वे स्वतंत्र विचारक वनें। माना जाता है कि शिक्षक कुआं है और विद्यार्थी वालटी। परंतु यह गलत ख्याल है। वास्तव में विद्यार्थी स्वयं कुआं है, उसके अंदर पानी भी भरा पडा है, शिक्षकों को रस्सी बन कर उस पानी को बाहर लाना है। बस, यही शिक्षण-कार्य शिक्षकों को करना है।

शिक्षण में गुणविकास की योजना होनी ही चाहिए। बच्चों की आत्मशक्ति प्रकट हो रही है या नहीं, यह देखना होगा। ऐसी शिक्षण-व्यवस्था, जहां देह से अलग आत्मा का भान नहीं होता है, हमारे विचार की शिक्षा ही नहीं हो सकती। प्राचीनकाल में

विद्यार्थी पूर्ण-स्नातक तब माना जाता था, जब वह विद्या-स्नातक होने के साथ-साथ व्रत-स्नातक भी बनता था। मतलब, उसे अपने खुद पर विजय प्राप्त करनी होती थी, आत्मनियमन की कला सीखने के बाद ही वह व्रतस्नातक कहलाता था। आजकल बच्चों में बुद्धि तो खूब होती है, परंतु धृति कम दीखती है। धृति यानी धीरज, धारण-शक्ति। शिक्षण में इसका विकास होना चाहिए। इसमें संस्कार, श्रद्धा, आत्मविश्वास, सेवा-कार्य, अध्ययन, संगीत, अध्यात्म, प्रेम, सहयोग, हिम्मत, सहनशीलता, धृति आदि अनेकविध शक्ति पनपाने का लक्ष्य होना चाहिए।

त्रिसूत्री : योग, उद्योग, सहयोग

मैंने शिक्षा में तीन सूत्र दिये हैं। वे हैं—योग, उद्योग और **सहयोग**। बुनियादी तालीम में हृदय, बुद्धि और हाथ तीनों की शिक्षा होनी चाहिए। योग के द्वारा बुद्धि को, उद्योग के द्वारा हाथों को और सहयोग के द्वारा हृदय को शिक्षा मिलती है। इसको मैंने शिक्षणत्रयी कहा है। इस तरह की त्रिविध शिक्षा के द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो सकता है।

योग यानी चित्त पर अंकुश रखना, इंद्रियों को अंकुश में रखना। विज्ञानयुग में चित्त की स्थिरता अत्यंत जरूरी है। इसके साथ-साथ विवेक-बुद्धि भी पनपनी चाहिए। विद्यार्थी में सारासार-विवेक बढ़ना चाहिए। प्राचीन और आधुनिक संस्कृति में से सारभूत तत्त्व निकालने की शक्ति आनी चाहिए। आज असांप्रदायिकता के

नाम पर शिक्षा में से धार्मिक शिक्षा बिलकुल निकाल दी गयी है। परंतु अध्यात्मविद्या के बिना मनुष्य मनुष्य कैसे बनेगा? इसलिए बच्चों को आध्यात्मिक शिक्षा मिलनी ही चाहिए।

दूसरा है, **उद्योग**। कर्म द्वारा ज्ञान, समवाय पद्धति का यह एक सूत्र है। उद्योग शिक्षण का एक साधनमात्र नहीं, उसका एक अविभाज्य अंग है। उससे बच्चों का सर्वांगीण विकास होना चाहिए, जीवनोपयोगी विविध ज्ञान मिलना चाहिए और अपनी आजीविका के लिए एक समर्थ साधन प्राप्त होना चाहिए। उद्योग यानी केवल चर्खा या तकली नहीं है। उसमें आधुनिक यंत्रों की अच्छी वर्कशॉप भी आयेगी, साथ-साथ खेती तो होनी ही चाहिए। उद्योग के द्वारा शारीरिक शक्ति का विकास तो होना ही चाहिए, साथ-साथ बौद्धिक विकास भी होना चाहिए। श्रमनिष्ठा बढ़नी चाहिए। उससे दिमाग ताजा और प्रसन्न रहेगा। श्रम और ज्ञान, दोनों ताने-बाने के मुताबिक परस्पर ओतप्रोत हो जायेंगे, तभी जीवन समृद्ध बनेगा।

तीसरा है **सहयोग**। सहयोग जीवन की कला है। इसमें समाज-शास्त्र, मानसशास्त्र सब आ जाता है। हम सबको एकसाथ जीना है, हमारा देश विविधता का देश है, यहां अनेक भाषा, धर्म, पंथ, जाति हैं। सबके साथ सहयोग से जीना आना चाहिए। केवल अपने देश का सवाल नहीं, यह तो विज्ञानयुग है, विश्वमानुष बनना होगा। इसमें सृष्टि के साथ भी सहयोगी संबंध बढ़ाना होगा।

सहयोग वृत्ति पनपाने के लिए गुणग्रहणशक्ति आनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति में से गुण ही ग्रहण करें। जैसे लोहचुंबक लोहतत्त्व

को अपनी ओर खींच लेता है, वैसे हम गुणचुंवक वनें। सहयोग के लिए गुणग्रहणवृत्ति अत्यंत आवश्यक है, उसकी तालीम वचपन से मिलनी चाहिए।

इस प्रकार की सर्वांगीण शिक्षा के द्वारा ही वच्चों का सर्वांगीण विकास हो सकेगा।

आचरण करे वह आचार्य

प्राचीनकाल से ले कर आज तक देखा जाये तो हमारे देश को आचार्यों ने ही वनाया है। आचार्य शव्द ही कहता है कि जो आचार करता है वह आचार्य है। 'चर' धातु से वह वना है और 'चर' धातु कामधेनु जैसा है। चारित्र्य शव्द भी 'चर' धातु से आया। चारित्र्य यानी शील। चरण यानी पांव, उसका 'आचरण' के साथ संवंध है। फिर उसी में से विचार, संचार, प्रचार आदि शव्द वने हैं जो आचार्य के साथ जुडे हुए हैं। आचारवान शिक्षकों के विना समाज वनाने का काम हो ही नहीं सकता।

आचार्य के मुख्य तीन लक्षण हैं। जो शीलवान, प्रज्ञावान और करुणावान होता है, वह है आचार्य। प्रज्ञावान ज्ञानी होता है, करुणावान मां होती है, शीलवान साधु होता है। परंतु आचार्य साधु, ज्ञानी और मां, तीनों होता है। मनुष्य में जो सुपुप्त पडा है उसको जागृत करने के लिए ज्ञान, प्रेम और जीवन, तीनों चाहिए। शिक्षण में सिखाना शव्द ही गलत है। हमारी भाषा में सिखाने के लिए 'टु टीच' जैसा स्वतंत्र शव्द ही नहीं है। हम सीखते ही हैं,

सिखाना भी सीखने में हो जाता है। 'टु लर्न' और 'टु टीच' ये दो प्रक्रिया हमारी शिक्षा पद्धति में नहीं हैं। दोनों के लिए अलग क्रियापद न होना, इसके पीछे एक बडा विचार छिपा हुआ है। हम सीख सकते हैं, सिखाने में मदद दे सकते हैं, लेकिन 'टीच' नहीं सकते। शिक्षक सीख कर सिखाता है।

इसलिए शिक्षक आजीवन विद्यार्थी होना चाहिए। सतत अध्ययनशीलता, उसका एक महत्त्व का लक्षण है। शिक्षकों की स्थिति गोरज के समय दूध से भरी हुई, दौडते आनेवाली गायों के जैसी होनी चाहिए। उनके देवता शिष्य हैं। उनको संस्कार, विद्या, मार्गदर्शन देना, आचार्यों का ही काम है। यह एक यज्ञकार्य है।

ऐसी ही भावना से मैंने जीवनभर शिक्षण का ही कार्य किया है। मैं अपने को एक शिक्षक ही मानता हूं। कभी-कभी मुझे लगता है कि मेरा जन्म ही इसी लिए हुआ है। मेरी अनुभूति है कि जब मैं किसी को सिखाने बैठूं तो हृदय में पावनता का अनुभव आता है। मैंने जीवन में दूसरे-तीसरे जो काम किये, उसकी कीमत दुनिया को जो करनी है सो करे, परंतु मेरी दृष्टि से तो यह हृदय धोने की क्रिया, अध्यापन का यह तीर्थस्नान ही मेरा मुख्य जीवन है। विद्यार्थियों के साथ मेरा जो पारस्परिक संबंध है, उसका वर्णन करने के लिए चंद्र-चकोर, मेघ-चातक जैसे काल्पनिक दृष्टांत ही खोजने पडेंगे।

मैं अपने को विद्यार्थियों में से एक ही मानता हूं। मैं 73 साल का एक विद्यार्थी ही हूं। एक भी दिन ऐसा नहीं जाता, जब मैंने कुछ न कुछ अध्ययन न किया हो। विद्यार्थी है ही विद्या-अर्थी।

उसको सतत विद्यार्जन करते रहना चाहिए। केवल परीक्षा के लिए तैयार होना, यह तो परीक्षार्थी का काम हुआ। विद्यार्थी वह है, जो सतत विद्यार्जन करता है। अब तो विज्ञानयुग है। भारत में अध्ययनसंपन्न अनेक ज्ञानी तैयार होंगे, तभी भारत का असर सारे विश्व पर पड सकेगा।

वेद में वर्णन आता है – **यो जागार तमृचः कामयन्ते। यो जागार तमु सामानि यन्ति।** जो बडी फजर जागता है उसी को विद्या प्राप्त होती है। ब्राह्ममुहूर्त सर्वोत्तम काल है, जब रात और प्रातः का संधिकाल होता है, ऐसे समय दिमाग में ताजापन और स्फूर्ति रहती है। परंतु आज सारा उलटा ही चला है। भारत का एक सिद्धांत है कि मृत्यु के समय जो स्मरण होगा, तदनुसार अगला जन्म मिलेगा। हमारी रात की निद्रा एक छोटी-सी मृत्यु ही है। इसलिए रात को सोते समय जो चिंतन चलेगा, अगले दिन सुबह वह अंकुरित होगा। आजकल आखिर में सिनेमा देख कर सोते हैं, फिर वे ही चित्र आंखों के सामने रहते हैं। रात को पढना, सुबह सोना ऐसा उलटा क्रम चला है। प्रातःकाल का समय सत्त्वगुण का है, बाकी के समय में रजोगुण, तमोगुण का प्राधान्य रहता है, इसलिए अध्ययन के लिए प्रातःकाल सर्वोत्तम काल है।

हम विद्यार्थियों के लिए अल्पतम आचार-संहिता सुझाते हैं।

1 – जल्दी सोना और जल्दी जागना, यह जीवन का सूत्र बने। रातभर घंटों पढने से कहीं ज्यादा बेहतर है ब्राह्ममुहूर्त में कुछ घंटे पढना।

2 – कम से कम आधा घंटा कसरत करें। और कम से कम एक घंटा प्रतिदिन शरीर-श्रम करना चाहिए। इस परिश्रम से जो आमदनी हो वह समाज को दे दें।

3 – छुट्टियों में आसपास के देहातों में जायें और वहां पर सफाई या ऐसी ही अन्य सामाजिक सेवाएं करें।

4 – विद्यार्थी संकल्प करें कि अपने से भिन्न धर्म, भाषा, जाति अथवा पक्ष के किसी दूसरे व्यक्ति को अपने मित्र बनायें।

5 – विद्यार्थियों को अच्छी हिंदी सीखनी चाहिए। ऐसा करने से वे भारत के जिस किसी कोने में जायेंगे, वहां अपने विचार अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकेंगे। अन्य प्रांतों के साथ संबंध बनाने का यह एक सशक्त माध्यम है। हिंदी के अलावा एक दक्षिण की भाषा भी सीखनी चाहिए।

विद्यार्थियों को व्यापक चिंतन करना चाहिए। वे विश्व नागरिक हैं, इसलिए विश्व से कम चिंतन तो उनका होना ही नहीं चाहिए। संकीर्ण राजनीति से उनको सर्वथा मुक्त रहना चाहिए। उनके दिल-दिमाग दोनों विशाल होने चाहिए। सारा जगत एक करना है और जगत का विश्वराष्ट्र बनाना है, यही लक्ष्य विद्यार्थियों को शोभा देता है।

इस तरह हमें शिक्षा में परिवर्तन करना होगा। शिक्षाविभाग सरकार से मुक्त होना चाहिए। जैसे न्यायालय सरकार से मुक्त है वैसे शिक्षण भी एक स्वतंत्र विभाग बनना चाहिए और शिक्षकों की हैसियत नौकर की नहीं, बल्कि समाज के मार्गदर्शक की, गुरु की होनी चाहिए। शिक्षक उभयान्वयी अव्यय है। वह विद्यार्थी और

अभिभावक, पालक और बालक, बीती हुई कल और आनेवाली कल, दोनों को जोडनेवाला सेतु है। उनका असर भारत पर पडना चाहिए।

परंतु आज उलटा हो रहा है। भारत की राजनीति का असर आचार्यों पर हो रहा है और विश्वविद्यालयों के अहातों में पुलिस प्रवेश कर रही है। दंगे होते हैं तो 'लॉ अॅण्ड ऑर्डर' के लिए पुलिस जायेगी और अशांति का दमन करेगी। मेरा कहना है कि अशांति का दमन तो पुलिस करेगी, लेकिन शमन-कार्य कौन करेगा ? आज शमन-प्रक्रिया कुंठित हो गयी, इसलिए दमन-प्रक्रिया जोरों से चली है। लेकिन प्राचार्यों और कुलपतियों को समझना चाहिए कि **सारा भारत युनिवर्सिटी का अहाता है और हमारा काम है, शिक्षा के द्वारा अशांति का शमन करना।** एक बहुत बडा कार्य आचार्यों के सामने उपस्थित है, इसका भान उन्हें होना चाहिए।

स्त्री-शक्ति जागृति

हमें समाज में समता लानी है, तो सब प्रकार के ऊंच-नीच भेदों को खत्म करना होगा। स्त्री-पुरुष-संबंध में जो ऊंच-नीच भाव है, वह भी समाप्त करना होगा। हमारा समाज पुरुषप्रधान समाज है। इतने सालों से पुरुषों ने समाज के काम चलाये और समाज का काम बहुत बिगाडा। स्त्री-शक्ति अगर सामने आयेगी तो समाज का तारण होगा। लेकिन आज स्त्रियां अपने को रक्ष्य समझती हैं और पुरुषों पर अपने रक्षण की जिम्मेवारी डाल देती

हैं। स्त्रियों को पुरुषों ने भयभीत अवस्था में रखा है और स्त्री का स्वाभाविक गुण भीरुता माना गया।

यह भी माना गया कि स्त्री मातृदेवता होने के कारण अधिक दयालु, शांत, करुणामय और वात्सल्यमय होनी चाहिए। **परंतु जिस मनुष्य में देह और आत्मा के पृथक्करण का भान नहीं, उसमें करुणा हो ही नहीं सकती। जब तक देह और देहसंबंध में हम पडे रहेंगे, तब तक करुणा की शक्ति प्रकट नहीं होगी, चाहे जीवन में दया थोडी बहुत प्रकट हो भी जाये।**

हम स्त्री-शक्ति जगाने की बात करते हैं। परंतु वास्तव में देखा जाये तो शक्ति का जो मूल स्रोत है, वह न तो स्त्री-शरीर में है, न पुरुष-शरीर में। वह तो अंतरात्मा में है। अंतरात्मा स्त्री-पुरुष भेदरहित है। दोनों के जीवन का उद्देश्य भी एक ही है। मानव-जीवन का उद्देश्य है – पूर्णता प्राप्त करना। सामाजिक दर्जा, आर्थिक अधिकार, नागरिक अधिकार, कुटुंब में स्थान, नैतिक योग्यता, शिक्षण-क्षमता, गुणोत्कर्ष, मानसिक भाव – ये सारी बातें दोनों में समान होती हैं, इसलिए कुल मिला कर स्त्री-पुरुषों में मूलतः अभेद है।

वास्तव में गुण न किसी जाति के आश्रित हैं, न किसी लिंग के। बाह्य उपाधि के कारण गुणों के प्रकाशन की पद्धति में फर्क हो सकता है। लेकिन दोनों के गुणों में ही फर्क है, ऐसा मानना विचार और अनुभव के भी विरुद्ध है। वस्तुतः स्त्री-पुरुष में एक ही चेतन तत्त्व और प्रकृति तत्त्व समान भाव से मौजूद है। दोनों की संसारासक्ति और संसारबंधन समान है और मोक्ष का अधिकार भी दोनों को समान है।

आज तक हमारा समाज पुरुषप्रधान रहा और उसमें स्त्री पुरुष की आसक्ति का विषय भी बनी और विरक्ति का विषय भी बनी। मतलब, केंद्र में स्त्री ही रही, चाहे संसार हो, चाहे संन्यास। ब्रह्मविद्या के केंद्र में कभी कोई देह कैसे रह सकती है? ब्रह्मविद्या का आरंभ ही वहीं से होता है, जहां स्त्री-पुरुष-भेद खत्म होता है। देहभाव मिटना ब्रह्मविद्या की समाप्ति नहीं, प्रारंभ मात्र है।

स्त्रियों को अपनी आत्मशक्ति का भान होना चाहिए। स्त्रियों का उद्धार तभी होगा, जब स्त्रियों में शंकराचार्य जैसी कोई प्रखर, ज्ञान-वैराग्य-संपन्न, भक्तिमान और निष्ठावान स्त्री निकलेगी। स्त्रियों का जब धर्म पर प्रभाव होगा, वह खुद जब शास्त्र निर्माण करेगी, ब्रह्मविद्या का आविष्कार करेगी तभी उनका उद्धार होगा।

आज तक स्त्रियों को संन्यास का अधिकार नहीं दिया गया, परिणामस्वरूप भारतीय ब्रह्मविद्या कुछ एकांगी-सी रह गयी है। इसलिए अब ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में स्त्रियों का प्रवेश होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अधिकार जितना पुरुषों का है, उतना ही स्त्रियों का है।

प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति इससे भिन्न थी। वेद की ऋचाएं लिखनेवाली वागांभृणी जैसी ब्रह्मवादिनियां यहां हुईं। वागांभृणी ने तो लिखा कि अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम् – मैं स्वयं राष्ट्र हूं और पृथ्वी की सारी मंगलता का मैं संगमस्थान हूं। स्त्री के लिए संस्कृत में 'महिला' शब्द है। वही शब्द भारत में महिलाओं का जो महान स्थान था उसे सूचित करता है। मध्यकालीन युग में मीरा, मुक्ता, आंडाल, अक्का महादेवी, जनाबाई और लल्लेश्वरी आदि भक्त स्त्रियां भारत में हो गयी।

स्त्रियों का उद्धार और कोई नहीं कर सकता। वह तो स्त्री को खुदको ही करना पडेगा। यह मान्यता सैकडों वर्षों से चली आ रही है कि स्त्रियों की रक्षा का भार पुरुषों पर है। परंतु जब तक यह मान्यता कायम रहेगी तव तक सही अर्थ में स्त्रियों की रक्षा होना असंभव है। जब तक स्त्री स्वयंरक्षिता नहीं बनेगी, तब तक वह सुरक्षित नहीं है। क्योंकि जो रक्षक होगा वही किसी दिन भक्षक हो सकेगा। इसलिए आत्मशक्ति के बल पर स्त्रियों को आत्मनिर्भर वनना चाहिए।

आत्मनिर्भरता के लिए देहपरायणता कम करनी होगी। आज शक्ति या सौंदर्य का केंद्र शरीर माना जा रहा है। जब तक यह शरीरपरायणता वनी रहेगी, तब तक स्त्रियों के चित्त में सदा भय वना ही रहेगा। मैं तो चाहता हूं कि स्त्रियों की तरफ से बगावत हो। लेकिन वगावत तो वह स्त्री करेगी, जो वैराग्यमूर्ति होगी। वैराग्यवृत्ति प्रकट होगी तभी तो मातृत्व सिद्ध होगा। स्त्रियां स्वतंत्रता चाहती हैं तो उन्हें वासना के वहाव में नहीं बहना चाहिए।

स्त्री शव्द में 'स्तृ' धातु है। यानी विस्तार करना। स्त्री केवल एक देह में नहीं जीती। वह अपना विस्तार कर के अपना ही रूप वच्चों में और पति में देखती है। यह परिवार-संस्था समाज में दृढ हुई उसका कारण स्त्रियां हैं। प्रेम, करुणा और त्याग के मूल्य पर उसने यह सुंदर काम किया और खुद गृहलक्ष्मी वन कर घर का अधिष्ठान वनी। लेकिन अव मामला वहीं रुक गया है, विस्तार नहीं हो रहा। स्त्रियों को अब परिवार बढाना होगा। समाजलक्ष्मी

बन कर समाज की समस्याओं का निराकरण करना होगा।

आज भारत में स्त्री यानी एक देह, एक खिलौना जैसा हो गया है। स्त्री को भोग का साधन माना जाता है। आजकल इतने गंदे पोस्टर्स और सिनेमा प्रकट हो रहे हैं, जिसमें स्त्रियों के नंगे दृश्य दिखाते हैं। ये जो अश्लील, गंदे पोस्टर्स लगाये जाते हैं, वे बच्चों के लिए फ्री अॅण्ड कम्पल्सरी एज्युकेशन इन सेक्स्युअॅलिटी यानी विषयासक्ति की मुफ्त और लाजिमी तालीम है।

इसके रहते हमारी नयी तालीम का कोई अर्थ ही नहीं रहता। इससे समाज निर्वीर्य बनेगा और वह न हिंसा की लडाई लड सकेगा, न अहिंसा की। यह तो अपनी इंद्रियों को गुलाम बनाने की पद्धति है। इसका डट कर विरोध होना चाहिए।

मैं चाहता हू कि सारे भारत की स्त्रियों को शांति-रक्षा और शील-रक्षा का काम करना चाहिए। इस समय भारत में चरित्र-भंग का कितना आयोजन हो रहा है। उसका विरोध और प्रतिकार अगर बहनें नहीं करेंगी, तो फिर परमेश्वर ही भारत को बचाये, यही कहने की नौबत आयेगी। आज शहरों की दशा बडी खतरनाक है। पढी-लिखी लडकियां वहां रास्तों पर चलती हैं, तो लडके उनके पीछे लगते हैं, यह क्या बात है? यह जो शील-भंग हो रहा है, जिसमें गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा ही गिर रही है, उसका विरोध करने के लिए बहनों को सामने आना चाहिए। माताओं को समझना चाहिए कि अगर देश का आधार शील पर नहीं रहा, तो देश टिक नहीं सकता। देश तभी बचेगा, जब देश का शील बचेगा।

शांति-रक्षा

आजकल समाज में अशांति के प्रसंग बहुत आते हैं। अब स्त्रियों में यह हिम्मत आनी चाहिए कि जैसे सुना कि गांव में झगडे हो रहे हैं, तुरंत घर से निकल कर बीच में पड कर शांति करानी चाहिए। झगडे शांत कराने में बहनें घायल भी हो जायें, मर-मिटने का भी मौका आये, तो भी तैयार रहना चाहिए। इस तरह समाज की शांति-रक्षा का कार्य भी बहनों को उठा लेना चाहिए। शांति की मूर्ति यदि गढनी हो तो वह स्त्री की ही हो सकती है। काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि विकार और प्रेम, ममता आदि गुण दोनों में हो सकते हैं। परंतु शांति की मूर्ति स्त्री ही हो सकती है, क्योंकि वह मातृस्थान है। वह सारे समाज की तारिणीशक्ति है।

संतति-नियमन

आज ज्यादा जनसंख्या का सवाल दुनियाभर को सताता है। जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए आश्रम-व्यवस्था बहुत उपयोगी है, जिसमें ब्रह्मचर्य और संयम द्वारा संतति-नियमन सधेगा।

हममें एक ऐसी शक्ति है कि उसे ऊपर उठाया जा सकता है, जैसे दीपक की प्रभा होती है। उसके लिए नीचे से तेल सप्लाई होता है, तभी उसकी प्रभा, वत्ती, ज्योति अच्छी तरह चमकती है। मनुष्य के लिए ब्रह्मचर्य तेल है और प्रज्ञा की प्रभा, उसकी बुद्धिमत्ता उसका प्रकाश है। ब्रह्मचर्य के तेल की सप्लाई उसे सतत मिलती रहे, तो बुद्धिमत्ता तेजस्वी होती है।

मनुष्य का वीर्य एक बहुत बडी शक्ति है। वीर्य से प्रज्ञा पैदा होती है। उस वीर्य को विफल नहीं होने देना चाहिए। कोई भी किसान अपना बीज खेत में बोते समय यह नहीं सोचेगा कि मेरा बीज निष्फल हो। बीज खूब फले-फूले ऐसी मंशा से ही वह बीज बोयेगा। बीज बोने में उसकी फलवत्ता अनिवार्य है, तो वीर्य बोने में भी अत्यंत अनिवार्य है, जिस वीर्य से महान पुरुष जनमे हैं। बीज बोना और उसे विफल जाने देना, यह अवैज्ञानिक बुद्धि है। मैं एक महान चिंतनशील लेखक की भाषा इस्तेमाल कर रहा हूं कि उससे 'डिस्ट्रक्शन ऑफ डिफेन्सलेस लाईफ' (निःसहाय जीव का घात) होगा।

लेकिन आजकल कृत्रिम साधनों द्वारा जनन-नियंत्रण की बातें बहुत चलती हैं। वास्तव में कुल जीवन का नियंत्रण होना चाहिए। स्वैराचार करते हुए कृत्रिम मार्ग से जनन-नियंत्रण करते हैं, तो समाज वीर्यहीन बनेगा, भ्रष्ट होगा, चिंतन-शक्ति नष्ट होगी। समाज में भोग बढेगा, असंयम बढेगा। इससे समाज को भयंकर नुकसान होगा। इसवास्ते ब्रह्मचर्य का अभ्यास होना चाहिए, समाज में संयम का वातावरण स्थापित होना चाहिए। शादी देर से हो और उसमें से मनुष्य जल्द से जल्द मुक्त हो जाये, ऐसी समाज-रचना हो। इसके वास्ते हमारी चार आश्रमों की योजना बहुत उपकारक है।

मैंने एक सूत्र बनाया है। 'पृथ्वी को पाप का भार होता है, पुण्य का नहीं।' पुण्य-मार्ग से संतान बढेगी, तो पृथ्वी को बोझ नहीं होगा। पुण्य-मार्ग से संतान घटेगी, तो नुकसान नहीं होगा। पाप-मार्ग से संतान बढेगी, तो पृथ्वी को भार होगा और पाप-मार्ग

से संतान घटेगी, तो नुकसान होगा। इसलिए संतति-निरोध के जो कृत्रिम उपाय चलते हैं, उनको मैं मातृत्व की विडंबना कहता हूं।

आज मानव-समाज में सेक्स का ऊधम मचाया जा रहा है। मुझे जितना भय युद्ध का मालूम होता है, उससे कहीं ज्यादा भय यह जो सेक्स का ऊधम चल रहा है, उसका मालूम होता है। अहिंसा को हिंसा का जितना भय है, उससे ज्यादा काम-वासना का है। गीता में आता है, **ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते** – शारीरिक तप में ब्रह्मचर्य और अहिंसा दोनों आते हैं। अगर दोनों को इकट्ठा नहीं रखेंगे और मानेंगे कि विषय-वासना बढती जाये और फिर भी अहिंसा रहे, तो वह होगा नहीं। इसलिए महावीर और बुद्ध ने अहिंसा के साथ-साथ ब्रह्मचर्य और तृष्णा-त्याग पर जोर दिया। पतंजलि ने भी पंचमहाव्रतों में अहिंसा के साथ ब्रह्मचर्य को रखा ही है। आज हालत यह है कि विज्ञान के कारण लोग कम मरेंगे और जनसंख्या बढेगी। इस तरह हर जगह विज्ञान की मदद ली जा रही है और सेक्स में नहीं ली जा रही है। लेकिन आज समाज की स्थिति ऐसी है कि सेक्स में भी साइंटिफिक ॲटिट्यूड (वैज्ञानिक वृत्ति) की आवश्यकता पैदा हुई है।

मैं जानता हूं कि बडे-बडे लोग फैमिली प्लानिंग के अनुकूल हैं, अच्छे-अच्छे विचारक उस पक्ष में हैं। लेकिन यह मानते हुए भी और उनके अनुकूल सोचने की पूरी चेष्टा करने पर भी, मेरी राय बनी कि यह चीज चार आश्रम की हमारी प्रतिष्ठा को उखाडेगी। हमारे पास गांधी तक की परंपरा है। फिर भी मैं हार खाऊं और संतति-नियमन के लिए संयम पर मेरी निष्ठा नहीं है कह कर यह

मार्ग लूं, तो मैं मानता हूं कि मैंने हिंदू-धर्म का दावा छोड ही दिया, लेकिन मानवता से भी हार गया। इसमें हम मानवता से ही परे हो जाते हैं। मानव का लक्षण संयम रखना है। 'फैमिली प्लानिंग' (परिवार-नियोजन) में मैं अपने देश का कल्याण नहीं देखता। वल्कि इसमें आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की हार है, ऐसा मैं मानता हूं।

आश्रम-व्यवस्था : सर्वोत्तम समाजशास्त्र

हमारे समाज में सामाजिक भेद वहुत हैं। हरिजन-परिजन भेद और छुआछूत भारत में वहुत चला है। वर्णाश्रम के कारण यह सव चला है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं। 'वर्णाश्रम', वर्ण और आश्रम, दो शव्द एकसाथ वोलने का रिवाज पड गया है। लेकिन वर्ण-व्यवस्था अलग चीज है और आश्रम-व्यवस्था अलग चीज है। वर्ण-व्यवस्था सव युगों में समान नहीं होती। प्रत्येक युग में वर्ण वदलता है। आखिर में नीर-क्षीर विवेक करनेवाला हंसवर्ण ही रहेगा, वाकी सव वर्ण खतम होंगे। परंतु आश्रम-व्यवस्था तो अत्यंत उपयुक्त है और दुनिया को उसके विना गति नहीं है।

मानवजीवन में चार आश्रमों की स्थापना यह वहुत ही सुंदर रचना है और उपकारक भी है। मनुष्य का जीवन 100 साल का माना गया और 25-25 साल के चार आश्रमों में वांटा गया है। मनुष्य पहले 25 साल तक ब्रह्मचारी रहे। यह ब्रह्मचर्याश्रम पूरा कर के दूसरे 25 साल तक गृहस्थाश्रम चलाये। उम्र के 50 साल

के बाद वानप्रस्थाश्रम और अंत में संन्यासाश्रम। यह आश्रम-व्यवस्था भारत की सबसे बडी आध्यात्मिक खोज है। भारत ने आश्रम-व्यवस्था के रूप में दुनिया को एक 'सर्वोत्तम समाजशास्त्र' दिया है। जैसे-जैसे मनुष्य बदलता जाता है, उसकी बुद्धि विकसित होती जाती है, वैसे-वैसे उसकी जीवनचर्या बदलनी चाहिए, यह एक बडा विचार है।

आश्रमव्यवस्था में क्रांति का स्वरूप उत्तरोत्तर बढता है। गृहस्थाश्रम में जिम्मेवारी आती है, कष्ट उठाना पडता है तो क्रांति होती है। किंतु बाद में संसार जम जाये तब उसे छोड कर वानप्रस्थ जीवन जीना यह दूसरी क्रांति है। जीवन में नित्यनूतन तपस्या चाहिए तब आरोहण होगा।

वानप्रस्थाश्रम द्वारा समाज-सेवा

भारतीय समाजशास्त्र में वानप्रस्थाश्रम का बहुत बडा योगदान है। जीवन की एक उम्र के बाद देहासक्ति तथा विषयासक्ति से मुक्त, गृहासक्ति छोड कर निष्काम सेवा में लग जाने की वृत्ति वानप्रस्थ वृत्ति है। मैंने तो यहां तक कह दिया है कि राजनीति में भी एक अमुक उम्र के बाद पद से मुक्त हो जाना चाहिए। ऐसा होगा तभी जवान लोग तैयार हो सकेंगे। अन्यथा आखिर तक काम में लगे रहते हैं तो समाज को बडा नुकसान पहुंचता है। इसलिए एक उम्र में गृहासक्ति, पदासक्ति सबसे मुक्त हो जाना अच्छा ही है।

परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि वानप्रस्थ हो जाने के बाद 'रिटायर' अर्थात् निवृत्त हो जाना है। रिटायर के बाद तो री-टायर होना है, टायरों को फिर से तैयार करना है और जो अनुभव हमने पूर्वजीवन में पाया, उसका उपयोग लोकसेवा में करना है। वानप्रस्थ-योजना समाज में चलेगी तो समाजसेवक कहां से लायेंगे, यह समस्या हल हो जायेगी। निष्काम वृत्ति से लोकसेवा में लग जानेवाले ये वानप्रस्थी उत्तरोत्तर अधिक परिपक्व होते जायेंगे। बाह्य आकार जीर्ण-शीर्ण होता जायेगा, परंतु अंतस्तत्त्व, बुद्धि उत्तरोत्तर अधिक परिपक्व और सुमधुर होगी। जैसे कच्चा आम हरा और खट्टा होता है, परंतु पक जाने के बाद वही फल पीला, सुनहरे रंग का, मीठा, सुमधुर हो जाता है। वानप्रस्थ जीवन कर्म-प्रधान नहीं, वृत्ति-प्रधान रहेगा। अपनी आत्मा में स्थिर होने का प्रयास सतत जारी रख कर नि-वृत्त, वृत्ति-रहित होने का वृत्ति-विकास का पुरुषार्थ इसमें चलेगा और धीरे-धीरे बालवत् हो जायेगा। मैंने कहा है – पचपन के बाद बचपन।

इन चारों आश्रमों के प्रयोग के लिए पुराने जमाने में 'आश्रम' बनाये गये, जहां जीवन के सिद्धांत सिद्ध करने के प्रयोग चलते थे और फिर सिद्ध हुए सिद्धांत समाज को लागू किये जाते थे। प्रयोगस्थान ही 'आश्रम' कहलाये। इस तरह आश्रम-व्यवस्था अलग है, और आश्रम-संस्था अलग है। ऐसे प्रयोग दुनिया में कहीं नहीं देखने को मिलते। योरप में ईसाई मठ होते हैं, यहां शंकर और बौद्धों के मठ होते हैं, परंतु आश्रम उनसे अलग है। मठों में

अध्ययन-अध्यापन चलता है, परंतु आश्रम तो जीवनोपयोगी तत्त्वों की एक छोटी-सी प्रयोगशाला ही है।

भारत की यह विशेषता है कि यहां जीवन अखंड रहा। यहां जीवन के टुकडे नहीं हुए। इसका एक कारण यह है कि यहां शब्द-शक्ति अखंड बनी रही और उसका दूसरा कारण है यह आश्रम-व्यवस्था। आश्रमों में शब्दों का विकास हुआ, जीवन के प्रयोग चले।

हमारी आश्रम-व्यवस्था में उत्तम मानसशास्त्र, उत्तम शिक्षण-शास्त्र और विचारशास्त्र तीनों इकट्ठे हुए हैं। मानवजीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों होती हैं। साधारणतया जीवन का पूर्वार्ध कर्मयोग-मूलक अभ्युदय के प्रयत्न में जाता है और उत्तरार्ध निवृत्ति में जाता है। निवृत्ति चिंतनप्रधान होती है और उसका हेतु है – लोकशिक्षण। पहले में लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा उठाना, दूसरे में लोगों का चिंतन-स्तर ऊंचा उठाना। इसी लिए हम कहते हैं कि विद्यार्थियों के लिए अनुभवी और वानप्रस्थ शिक्षक चाहिए। राजनीति का विषय लेना हो तो पंडित नेहरू को लेना चाहिए, और अर्थनीति का बिरलाजी को। मतलब कि जिस क्षेत्र में जिनका अनुभव है, वे अपने अनुभव के आधार पर बच्चों को शिक्षण दें। लोकशिक्षण का काम भी ऐसे लोग करें।

आज हमारी प्रवृत्ति लोकपरायण नहीं, विषय-सेवापरायण है। और हमारी निवृत्ति चिंतन या शिक्षण-परायण नहीं, निष्क्रियता-परायण हो गयी है। हमें फिर से हमारी पुरानी आश्रम-व्यवस्था चालू कर के वानप्रस्थाश्रम के द्वारा समाज-सेवा के वाहकों का सवाल हल करना चाहिए।

वर्ण-व्यवस्था गुणानुसार

वर्ण-व्यवस्था में समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इस प्रकार चार वर्णों में बांटा गया। आज चातुर्वर्ण्य के नाम पर समाज में ऊंच-नीच भाव हो गये हैं। मूलतः वह एक सहकारी संस्था के तौर पर था। उपनिषदों में वर्णन आता है कि आरंभ में केवल एक ही वर्ण था। उससे सारे काम पूरे न हो पाये इसलिए उसकी मदद के लिए क्षत्रिय और बाद में वैश्य वर्ण बनाये गये। उनसे भी काम पूरा न हो सका, तो शूद्र वर्ण यानी सबका पोषण करनेवाला वर्ण निर्माण हुआ। मतलब, ये सारे वर्ण परस्पर पूरक हैं और हरएक वर्ण की योग्यता बराबर है, बशर्ते हरएक वर्ण अपना काम निष्ठापूर्वक करे। सबको मोक्ष का समान अधिकार था। लेकिन यह तो मूलतः शास्त्रकार की कल्पना। आगे उसमें दोष उत्पन्न हुए और ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ, बाद क्षत्रिय, वैश्य ऐसी श्रेणियां बनीं, शूद्र सबसे कनिष्ठ माना गया। इस तरह हिंदूधर्म का ह्रास हुआ। हिंदूधर्म में फैली इस विषमता का लाभ दूसरे धर्मवालों ने उठाया, जिनमें समानता थी। निचली जाति के लोगों ने नये धर्म का स्वीकार किया, ऐसा इतिहास है। पुराने जमाने में गुणानुसार काम बांटे गये थे। ऊंच-नीचता या स्पृश्य-अस्पृश्यता का भाव उसमें नहीं था। उसके मूल में भावना यह थी कि हर वर्ण में चारों वर्ण हों। परिपूर्ण व्यक्तित्व हो और हर मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो, लेकिन उसके साथ-साथ सामाजिक कार्य के तौर पर अध्यापन, रक्षण, व्यापार या सेवा का जिम्मा उठा ले। यह

धर्म की योजना थी, स्वार्थ की नहीं। परंतु बीच के काल में वर्ग-विभाजन में ऊंच-नीच भाव दाखिल हो गये और उसने समाज की अखंडितता को चूर-चूर कर दिया।

प्राचीनकाल में कर्म-विभाग था। उसके साथ जन्म का संबंध नहीं था। जब से उसका जन्म के साथ संबंध आया, तब से ऊंच-नीच भाव आया। पहले तो जो मुख से काम करता था वह ब्राह्मण; अंगुलि से उत्पादन करता था, वह वैश्य; हाथ से रक्षण करनेवाला क्षत्रिय और पांव से ज्यादा काम करनेवाला शूद्र था। बाबा शूद्र है, पांव से चलता जो है। डाकिया, शूद्र है। ऐसा ही विभाग देवों में भी है। अग्नि ब्राह्मण है, उसमें आहुति दी जाती है। सूर्य क्षत्रिय है, चारों ओर किरणें फैलाता है। वायु व्यापारी है, इधर-उधर सामान पहुंचाता है। और शूद्र है पृथ्वी जो सेवा के लिए चारों ओर घूमती है।

वास्तव में चातुर्वर्ण्य एक ऐसी चीज थी, जो दुनिया में कहीं नहीं थी। वह हमारे समाज की विशेषता थी। उसका उद्देश्य था – स्पर्धारहित समाजरचना करना। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार विद्यादान करनेवाला ब्राह्मण अपरिग्रही था। ऐच्छिक दारिद्र्यवरण करता था। क्षत्रिय वर्ण के लोग समाज की रक्षा के तौर पर राज्य करते थे और सारी संपत्ति रघुपति की यानी भगवान की मानते थे। राजा प्रजा के सेवक माने जाते थे। वैश्यधर्म के अंतर्गत सभी धंधेवाले थे, जिनको समान मजदूरी मिले, यह आदर्श था। प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे की बनायी चीज इस्तेमाल करे यह वर्णधर्म था। वर्गहीन समाजरचना का मतलब है – सबको समान वेतन मिले। यह तभी

हो सकता है, जब बेटा बाप का धंधा न छोडे। वर्ण की कल्पना वर्ग की विरोधी है।

वर्णव्यवस्था में खेती को प्रमुख स्थान दिया गया था। सबको थोडी-थोडी खेती करने को कहा जाता था। इस प्रकार अपना-अपना काम करते हुए सबको समान वेतन, समान मान्यता, यानी ऊंच-नीचता की भावना का अभाव और सबको मोक्ष का समान अधिकार, यह वर्ण-व्यवस्था का सार है।

लेकिन जब से यह व्यवस्था टूटी और समाज में ऊंच-नीच भाव पैदा हुए, तब से शोषण शुरू हुआ। आज मजदूरों की संख्या बढ गयी है, लेकिन हमारी संस्कृति के अनुसार मजदूर सबसे कम होना चाहिए। वैश्य वर्ण सबसे अधिक होना चाहिए, यानी समाज में उद्योग करनेवालों की संख्या अधिक होनी चाहिए। परंतु आज सब बदल गया और समाज में जातिभेद का असुर खडा हो गया।

जातिभेद कैसे मिटे ?

हमें तो सारे भेद मिटाने हैं। जातिभेद का भी निरसन करना है, हिंदू-मुस्लिम एकता भी दृढ करनी है और मानव की प्रतिष्ठा मानव के नाते ही स्थापित करनी है। अलग-अलग धर्म, उपासना के अलग-अलग प्रकार मात्र हैं, परंतु एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति – सत्य तो एक ही है, कहने की रीत अलग-अलग है।

जातिभेद के निराकरण के लिए निम्न प्रकार के काम करने होंगे – 1. यह मानना गलत है कि कोई मांस खाता है, इसलिए

वह नीच है। ऊंच-नीचता तो हृदय-शुद्धि पर निर्भर है। वह स्थूल क्रियाओं पर आधारित नहीं है। यह भी समझना चाहिए कि जिस जाति में मांसाहार नहीं है, वह उनकी अपनी खुदकी कमाई नहीं है, पूर्वजों की कमाई है। 2. किसी भी सार्वजनिक कार्य में या संस्थाओं में जातिभेद नहीं होना चाहिए। 3. देश में मांसाहार-परित्याग के लिए आध्यात्मिक वृत्ति का प्रचार करना होगा। साथ-साथ यह भी देखना होगा कि दूध, तरकारी, फल आदि खूब बढें। दुनिया में पूर्ण अहिंसा का उदय तभी होगा, जब वह मांसाहार-परित्याग करेगी।

मांसाहार अब चलनेवाला नहीं है। आज विश्व के सामने वस्ती-नियंत्रण कैसे करें, यह समस्या है। जमीन कम पड रही है, मनुष्य बढ रहे हैं। यूनो की सभा में सुझाव आया कि मांसाहार छोडना होगा, क्योंकि मांसाहारी को शाकाहारी से चार गुना जमीन लगती है। शाकाहारी को अगर एक एकड जमीन पर्याप्त होती है, तो मांसाहारी को चार एकड जमीन चाहिए। क्योंकि घास खानेवाला जानवर चार गुनी जमीन लेता है। पहले जानवर को खिला कर फिर उस जानवर को खाया जाता है। इसलिए मांसाहार-परित्याग यह आज के युग के लिए बहुत जरूरी है।

मदिरापान महापातक

वैसा ही एक कार्यक्रम शराब-बंदी का भी है। कुल दुनिया के लिए बोलना मेरे लिए जरूरी नहीं, परंतु भारत के लिए तो

शराव-वंदी की अत्यंत आवश्यकता है। मैंने कई दफा उपनिपद की वात सुनायी है – **पंचमहापातक**। एक होता है, सामान्य पातक और दूसरा होता है, महापातक। उपनिपद ने पांच महापातक वताये हैं। एक महापातक है, ब्रह्महत्या यानी संतपुरुपों की हत्या। हत्या करना पाप है, परंतु संतपुरुपों की हत्या तो महापाप है। इस प्रकार सामान्य व्यसन होते हैं, तमाकू खाते हैं, चाय पीते हैं, वीडी-सिगरेट पीते हैं, ये सामान्य पातक हैं। परंतु सुरापान महापातक है। इस तरह चार महापातक वताये। पांचवां कौन? **पंचमश्च आचरंस्तैरिति** – उन चारों के साथ जो किसी भी प्रकार से सहयोग देता है, वह महापातकी है।

हंसवर्णी समाज

हमें वर्गभेद मिटाने हैं और शास्त्रकार जिसे 'हंसवर्ण' कहते हैं, वैसा समाज हमें वनाना है। शास्त्र में कहा है कि कलियुग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ऐसे चार वर्ण रहेंगे। फिर आगे एक ऐसा युग आयेगा जिसमें हंसवर्ण समाज यानी नीर-क्षीर-विवेक रखनेवाला समाज ही होगा। अर्थात् गुण लेनेवाला और दोपों को टालनेवाला ऐसा एकरस समाज स्थापित करने का आदर्श ऋपि-मुनियों ने हमारे सामने रखा है। उसकी तुलना में वर्गयुक्त समाज अभावरूप समाज हुआ, जवकि हंसवर्णी समाज भावरूप होगा। हरएक मनुष्य दूसरे का गुण ले और अपने दोपों का परिहार करे। ऐसे समाज में गुणों का वंटवारा नहीं होगा।

हम तो ऐसी समाजरचना करना चाहते हैं कि जिसमें गुणों का बंटवारा नहीं, परंतु गुणों का आदान-प्रदान हो। गुणों का संग्रह, सर्वगुण समुच्चय करने के लिए हंस-वृत्ति। इस प्रकार होगा तो बापू कहते थे वैसी समग्र सेवा होगी।

वास्तव में मानव को बिना किसी लेबल के ही पहचानना चाहिए। वेद में एक सुंदर वचन आता है – **प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः** – यानी मानव को मानव के तौर पर ही ग्रहण करें। अगर यह चीज हमें सध जाती है तो न केवल भारत के, बल्कि दुनिया के अधिकाधिक प्रश्नों का हल निकल आयेगा। विज्ञानयुग में जब तक मानवता को सरलता से ग्रहण करने की बुद्धि हमें नहीं सूझेगी, तब तक मनुष्य की बुद्धि विज्ञानयुग के साथ टकरायेगी। और जब टकरायेगी, तब वह छिन्न-भिन्न हो जायेगी, क्योंकि विज्ञान किसी भी तरह की संकुचितता या संप्रदाय या पंथ सहन करने को तैयार नहीं होगा। आत्मज्ञान और विज्ञान दोनों अब भेद पर प्रहार करते हैं। यद्यपि आत्मज्ञान सीधा प्रहार नहीं करता, क्योंकि जो आत्मा की उन्नति की दृष्टि रखते हैं, उनको ही आत्मज्ञान की अपील लागू हो सकती है। लेकिन विज्ञान की वृत्ति को टाल नहीं सकते, क्योंकि विज्ञान इसी का दर्शन कराता है कि इहलोक में मनुष्य कैसे टिक सकेगा। वह कहता है कि अगर आप भेद-संकुचितता रखेंगे और मनुष्य को ग्रहण नहीं कर सकेंगे तो परस्पर द्वेष फैलेगा और परिणामस्वरूप पुराने जमाने में जो परिणाम आये थे, उससे अधिक भयानक परिणाम आज आयेंगे।

भारत में भाषाभेद के कारण भी झगडे चलते हैं। समझना चाहिए कि यह भाषाभेद तो हमारा वैविध्य है। विविधता संपत्ति

है, विपत्ति नहीं। विविधता में छिपी एकता को हमें दृढ करना चाहिए। भाषाओं के झगडों को ले कर जब (सन् 1965 में) दक्षिण में दंगे हुए, तब मुझे उपवास की प्रेरणा हुई और मैंने त्रिसूत्री फार्म्यूला दिया था, जिसमें किसी पर हिंदी या अंग्रेजी लादी न जाये, इसका संकेत था।

सर्वधर्म सार

स्त्री-पुरुष-भेद, हरिजन-परिजन भेद जैसे ही हिंदू-मुस्लिमादि भेद बिलकुल बेबुनियाद हैं। वास्तव में हिंदू-मुस्लिम में आपस में लडाई है ही नहीं। कुछ महत्त्वाकांक्षी, बेकार और पढे-लिखे लोग दोनों को लडा कर खिलवाड करते हैं। वास्तव में धर्म के नाम के ये झगडे नाहक चले हैं। जो अपने धर्म का निष्ठापूर्वक आचरण करता है, उसे स्वभावतः पर धर्म के विषय में भी आदर होगा। जो पर धर्म का आदर नहीं कर सकता, वह स्वधर्म का भी आचरण नहीं करता। धर्म का रहस्य समझने के लिए न कुरान पढने की जरूरत है, न पुराण। केवल एक बात याद रखनी चाहिए कि **'सारे धर्म हरि के चरण हैं।'** और सर्वधर्म समभाव रख कर आदर रखना चाहिए।

अपनी इस भारतभूमि में बिलकुल प्राचीन काल से आज तक सतत एक शब्द चला आया है, वह है 'धर्म'। इस शब्द का अनुवाद मुश्किल है। धर्म संस्कृत शब्द है और भारत की हर भाषा में यह शब्द चलता है। वेद में वर्णन आता है कि विष्णु भगवान ने एक

कदम स्वर्ग में, दूसरा अंतरिक्ष में और तीसरा पृथ्वी पर रखा। ये तीन चरण क्यों रखे? **अतो धर्माणि धारयन्** – धर्म को धारण करने के लिए भगवान ने तीन चरण उठाये। इसके अलावा, **यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्**। यानी देवों ने यज्ञ निर्माण किया और लोगों को प्रथम 'धर्म' सिखाया। यज्ञ यानी ऐसा उपकार, जिसमें दोनों का भला होता है। परोपकार और स्वोपकार दोनों जिसमें समाविष्ट हैं वह है यज्ञ।

धर्म अत्यंत आसान है। उसमें थोडी सेवावृत्ति चाहिए। परंतु ज्ञानदेवमहाराज को इस बात का आश्चर्य है कि इतने आसान धर्म का पालन भी लोग क्यों नहीं करते। मेरा तो यह कहना है कि आज तक धर्म-स्थापना ही नहीं हुई है। लोगों को यह सुन कर आश्चर्य लगता है कि दुनिया में इतने विविध धर्म स्थापित हुए और यह शख्स कहता है कि अभी धर्मस्थापना होना बाकी है, तो क्या बात है? हम कहते हैं कि ये जो हिंदू, ईसाई, मुस्लिम, बौद्ध आदि हैं, वे 'धर्म' नहीं हैं, पंथ हैं। धर्म का यह प्रथम चरण मात्र है। छोटा बच्चा प्रथम चरण रखता है, वैसा यह धर्म का प्रथम चरण है। ये सब छोटे-छोटे दीये मात्र हैं। अभी सूर्य उगना बाकी है। वह उगेगा उसके बाद ये छोटे-छोटे दीये रहेंगे नहीं। हमारा प्रथम चरण अंधेरे में फिसल न जाये इसलिए ये छोटे-छोटे दीये निर्माण हुए हैं।

'धर्म' तो तब बनेगा, जब मनुष्य मानसिक भूमिका से हट कर विज्ञान की भूमिका पर आयेगा। आज धर्म कहता है कि ब्राह्मण को खिलाना पहला धर्म और आग्रहपूर्वक खिलाना नंबर दो का धर्म। विज्ञान कहेगा, ये दोनों धर्म नहीं हैं, धर्म तो इसमें है कि भूखे को खिलाओ। पुराना धर्म अब काल-बाह्य हो गया है, वह जीर्ण शीर्ण हो गया। ऐसा धर्म अब टिकेगा नहीं।

इसके आगे विज्ञान और आत्मज्ञान के आधार पर सब मानवों का एक धर्म हमें स्थापन करना है। विश्वमानुष बन कर ही यह धर्म स्थापित हो सकेगा। 'धर्म' एक व्यापक शब्द है, धर्म अविचल होता है, उसके सिद्धांत अचल होते हैं। जैसे गणित के सिद्धांत सभी देश और काल में स्थिर हैं, वैसे ही धर्म अविचल है। सत्य, प्रेम, दया आदि सनातन मूल्य ही सनातन धर्म है, जो अविचल ध्रुव, शाश्वत, स्थिर और नित्य है। इसी को हम अध्यात्म कहते हैं और विज्ञान के साथ अध्यात्म को जोडने की बात हमने कही है।

हमारा राज्य धर्म-निरपेक्ष राज्य है। जो सच्चा और अच्छा राज्य है वह धर्म-हीन नहीं होता धर्म-निरपेक्ष ही होता है। यहां धर्म यानी रिलीजन, पंथ! अन्यथा सत्य, प्रेम न्याय आदि के अर्थ से तो तमाम सरकारें धार्मिक ही होनी चाहिए। परंतु हमारा राज्य सेक्युलर यानी असांप्रदायिक है। यानी संप्रदाय-निरपेक्ष है।

आज जिसको 'धर्म कहते हैं, वह वास्तव में धर्म नहीं है, 'पंथ' है, श्रद्धा है। धर्म तो अभी बनना बाकी है। सब धर्मों ने दुनिया में कुछ न कुछ श्रद्धा निर्माण की है, उसके कारण लोगों के चित्त पर कुछ न कुछ उसका असर भी है।

नीति-विचार अलग है, धर्म अलग है। आज तक का अनुभव ध्यान में ले कर, सत्य-अहिंसा को सामने रख कर अब हमें धर्म बनाना है। अभी तक विज्ञान नहीं था, इसलिए धर्म नहीं बना। परंतु अब विज्ञान बढ रहा है इसलिए आगे धर्म की स्थापना होनेवाली है। दुनिया में आज जो विविध जाति, पंथ आदि हैं, उन सबको मिटा कर एक मानवधर्म स्थापित करना होगा। हमने कहा ही है – **भाषा, धर्म, पंथ**; इन सबका अंत, सर्वोदय।

हर मानव के पास सत्य का एक अंश होता है, इसी लिए मानवजन्म सार्थक होता है। तो सब मानवों में, सब धर्मों में, सब

पंथों में जो सत्य का अंश है, उसको ग्रहण करना चाहिए। विज्ञान ने दुनिया को छोटी बना दी है और वह मनुष्य मात्र को नजदीक लाना चाहता है। इस हालत में मनुष्य समाज संकुचित दायरे में विभाजित रहे, हर जमात अपने को ऊंची माने और दूसरों को नीची माने, यह कैसे चलेगा ? हमें एक-दूसरे को ठीक से समझना होगा, एक-दूसरे के गुण ग्रहण करने होंगे। मैंने जो विविध धर्मों के सार निकाले, वह इसी दिशा का एक छोटा-सा प्रयत्न है।

हरिजन-आदिवासी-सेवा

आज के समाज में विभिन्न वर्ग स्थापित हो गये हैं और सब वर्गों का अपना-अपना हित अलग से सोचा जाता है। कुछ वर्ग आर्थिक स्तर पर हैं तो कुछ सामाजिक ! इन वर्गों का परस्पर हितविरोध माना जाता है और फिर अपने-अपने हित के लिए आंदोलन चलाये जाते हैं।

इस प्रकार समाज को अलग-अलग वर्ग में विभाजित करना हमें बिलकुल मान्य नहीं। 'आदिवासी' नाम का अलग वर्ग मान कर उनके बारे में सोचा जाता है। वास्तव में कौन आदिवासी कौन अंतवासी ? कौन जानता है कि कौन पहले जन्मा और कौन बाद में ? मां तो कभी ऐसा भेद नहीं करती। फिर भी आज आदिवासी सेवा की प्रवृत्ति चली है।

आदिवासियों की सेवा करनेवाले कार्यकर्ताओं को प्रकृति, संस्कृति और विकृति का ठीक भान होना चाहिए, अन्यथा सेवा की जगह कुसेवा हो जायेगी। आज शहरवालों के जीवन में प्रकृति का अंश बहुत कम है, विकृतियां काफी आ गयी हैं, कुछ संस्कृति

भी है। इसलिए शहर की विकृति वहां न जाये, संस्कृति का प्रदान करें। जब मनुष्य प्रकृति से ऊपर जाता है और उसे वश करने के लिए अपने में कुछ सुधार कर लेता है, तब संस्कृति उत्पन्न होती है और जब मनुष्य प्रकृति से नीचे गिरता है, तब 'विकृति' आ जाती है।

मिसाल के तौर पर दूध स्वयं प्रकृति है, दूध का मक्खन बनाना संस्कृति है और अच्छे फूलों की या अंगूर की शराब बनाना विकृति है। इस प्रकार जिसे प्रकृति, संस्कृति और विकृति का सम्यक् विवेक हो, वही कार्यकर्ता आदिवासियों की सेवा करने योग्य होगा।

हरिजन-परिजन भेद गलत है। और अब हरिजनों को हरिजन मान कर अलग से उनकी सेवा हो, यह नहीं रहना चाहिए। हमने कहा था कि अब हरिजन-सेवक-संघ नहीं, बल्कि हरि-सेवक-संघ हो। यही सच्ची हरिजन सेवा है।

कहा जाता है कि आदिवासी बिना संस्कार के हैं, लेकिन हकीकत यह है कि उनके पास हिंदुस्तान के मूल संस्कार हैं। साधारण लोगों की यह कल्पना है कि जैसे ईसाई धर्म की 'बाइबल', हिंदू धर्म की 'गीता', मुस्लिम धर्म की 'कुरान' है, वैसी आदिवासियों की कोई किताब नहीं है। यह बात सही है कि आज की आदिवासी की भाषा में कोई किताब नहीं है। परंतु उनकी पुस्तक प्राचीन आदिवासियों की भाषा में लिखी गयी है। वह भाषा अब पुरानी हो गयी है। दुनिया में जो आदि ग्रंथ लिखा गया है, उसका नाम 'ऋग्वेद' है। वह आदिवासियों का ग्रंथ है। आदिवासियों की संस्कारिता, भावना, उपासना, जीवन पद्धति, यह सब 'ऋग्वेद' में बहुत अच्छी तरह से देखने को मिलता है।

आदिवासी लोगों ने जंगल काट कर, साफ कर फिर उसमें बसने का काम किया। उसका बहुत सुंदर वर्णन ऋग्वेद में आता है —

"देवास आयन् परशूंरबिभ्रन् वना वृश्चन्तः ।" देव आये, भगवान आये और उन्होंने कुल्हाडी ले कर जंगल काटा। जंगल काट कर जो वस्ती बनायी उसे '**ग्राम**' कहा। आज जैसे राष्ट्र-धर्म,विश्व-धर्म की बात चलती है, उसी तरह आदिवासियों का ग्रामधर्म था। ग्रामधर्म में विश्वधर्म आ गया, यूं मान कर आदिवासी भगवान से प्रार्थना करते थे कि हे प्रभु, हमारे गांव में आरोग्यवान, परिपुष्ट ऐसा विश्व दीखना चाहिए। – '**विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्।**' यह लौकिक संस्कृत नहीं है, वैदिक संस्कृत है, जो पुरानी आदिवासी भाषा है।

गांव में विश्व की बात कही गयी। यानी गांव आकार में भले छोटा हो, प्रकार में बडा हो, जिसमें विश्व समा जाये। पुष्टि केवल शारीरिक नहीं, भौतिक-मानसिक अर्थ में भी हो।

अब हमें 'आदिवासी-सेवा, हरिजन-सेवा' आदि विशेषणों को छोड देना चाहिए। विश्वसेवा में, सर्वसेवा में सब आ जाते हैं। विश्व से उनको अलग काट कर सेवा की बात करेंगे, तो सर्वोदय नहीं होगा, सांगोपांग सेवा नहीं होगी। उसमें असेवा होने की अधिक संभावना है, कुसेवा भी हो सकती है। हमारा लक्ष्य मानव-सेवा ही होगा।

आदिवासियों की सेवा करते समय एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अपने दुर्गुणों की छूत उन्हें न लगे। उनका स्वभाव सत्य-निष्ठ होता है और दिये हुए वचन का अवश्य पालन करते हैं। परंतु जब पैसा ले कर उनकी सेवा करने जाते हैं और उनके अतिथि बनते हैं तो आदिवासी भाई भी 'डाह्याभाई' यानी 'होशियार' भाई बनते हैं और उनमें जरूरत से ज्यादा चतुराई आ जाती है। उनकी निर्दोषता, सत्य, बालवत् है, अज्ञानपूर्वक है। इस

अज्ञान का ज्ञान में परिवर्तन कर सकते हैं, तो करें, परंतु ज्ञान देने के बहाने उनमें जो सत्य है, वह खो न जाये यह अत्यंत मूल्यवान बात हम भूल न जायें।

बागियों के बीच

आज की समाजरचना ऐसी है कि उसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच दीवार खड़ी कर दी गयी है। भूदान-यात्रा के सिलसिले में मेरा चंबल घाटी के क्षेत्र में भी जाना हुआ। सब जानते हैं कि वहां के बागियों ने शस्त्र-समर्पण किया और सरकार जो भी सजा दे, भुगतने की तैयारी दिखायी। मुझसे पूछा गया था कि आप डाकुओं के क्षेत्र में जा रहे हैं? तब मैं कहता था, मैं नहीं जानता कि कौन डाकू है और कौन सज्जन। इसका फैसला तो परमेश्वर के पास होनेवाला है। जो डाकू माने जाते हैं, वे ही डाकू होते हैं ऐसा नहीं। जो सफेदपोश डाकू होते हैं, संभव है कि परमेश्वर की निगाह में वे अधिक गुनहगार सिद्ध हों। इसलिए हमने तो ईसा की शिक्षा स्वीकार्य की है कि हम एक-दूसरे पर प्यार करें, एक-दूसरे का न्याय न करें. इसलिए मेरे लिए इस दुनिया में डाकुओं का कोई क्षेत्र नहीं है। सब क्षेत्र सज्जनों के ही हैं। मुझ यह भी पूछा गया था कि क्या इन डाकुओं का सचमुच में परिवर्तन हुआ? मैं उन्हें जवाब देता हूं कि भाई, उनका परिवर्तन हुआ या नहीं, मैं नहीं जानता। लेकिन मेरा परिवर्तन तो हो ही गया। मैं एक पत्थर-दिल आदमी था, परंतु यह जो घटना घटी, उससे मेरा हृदय पिघल उठा।

वास्तव में हमें एक-दूसरे का न्याय नहीं करना चाहिए, बल्कि प्यार ही करना चाहिए । मनुष्य हमेशा परिवर्तनशील है । नदी का पानी हर क्षण नया होता है । आज जो पानी आया, वह नया है । मनुष्य भी नित्यनूतन है, बदलता रहता है । इसलिए कोई मनुष्य गुनाह करता है तो उसकी सजा उस गुनाह करनेवाले को हम नहीं करते । वह तो कब का बदल चुका होता है । अक्सर होता यह है कि गुनाह किया गोविंद ने, परंतु पकडा गया गोपाल को, केस चला केशव पर और फांसी पर चढाया गया नारायण । बाहर से चारों हैं एक ही मनुष्य, परंतु मनुष्य के भीतर के रूप बदलते रहते हैं । कहा जाता था कि वे बागी हैं । तो बगावत तो हम भी करते हैं. हम भी बागी ही हैं । वर्तमान समाज की ओर हमारी बगावत ही है ।

यह बात भी है कि जिसे डाकुओं की समस्या कहा जाता है, वास्तव में वह कायरता, कंजूसी और शोषण की समस्या है । कंजूस ही चोरों को पैदा करता है । उदारता, निर्भयता और इंद्रियों पर अंकुश रखने के शिक्षण से उस समस्या का हल हो सकेगा । निर्भयता आत्मा की भूमिका पर ही आती है । गिरेगा तो शरीर ही गिरेगा, आत्मा तो अमर ही है – यह विचार आत्मसात् होना चाहिए ।

मुख्य सवाल डाकु-वृत्ति का है । शस्त्रों से डाकुओं को खत्म करेंगे तो भी दूसरे डाकू पैदा हो जायेंगे । अहिरावण के शरीर से रक्त की जितनी बूंदें गिरती थीं, उतने ही नये अहिरावण पैदा होते थे । इसलिए शस्त्र से किसी को नष्ट करने का तरीका ही गलत है । बंदूक से जहां काम लेना शुरू होता है, वहां बंदूकें बढने लगती हैं । और बंदूक हाथ में आती है तो मारने की इच्छा होती है ।

साम्ययोग का पंचायतन -

शं ना रा ग दे

गांव-गांव जाओ। गाते हुए जाओ, नाचते हुए जाओ। यह महान क्रांति का काम निष्क्रिय और सुस्त बैठनेवालों का काम नहीं है। यह काम तो भक्ति-रस पी कर मस्त होनेवालों का है। आप घरबार छोडिए, थोडा त्याग करिए।

शास्त्रों ने आज्ञा दी है - चरैवेति, चरैवेति। चराति चरतो भग: - जो विचरता है, उसका भाग्य भी चलता है।

*

— सर्वोदय का पंचायतन

— शं = ब्रह्मविद्या

— ना = ग्रामस्वराज्य

— र = शांति-सेना

लोकसम्मति के तौर पर सर्वोदय-पात्र

— ग = आचार्य-कुल

अनुशासन आचार्यों का

— दे = देवनागरी

राष्ट्रीय एकता

सर्वोदय का पंचायतन

हिंदूधर्म में पहले मूर्तिपूजा नहीं थी। लेकिन गौतम बुद्ध के जाने के बाद उनकी हजारों मूर्तियां बनने लगीं। तो हिंदुओं ने सोचा कि अपनी भी मूर्तियां बनें और हिंदूधर्म में भी सूर्य, चंद्र, लक्ष्मी, शक्ति, सरस्वती पार्वती इस तरह सैकडों मूर्तियां बनीं। फिर शंकराचार्य आये। उन्होंने अद्वैत सिखाया। अद्वैत में मूर्तिपूजा नहीं है। लेकिन हिंदूधर्म में सैकडों मूर्तियां थीं, उनके आपस में झगडे भी थे। इन झगडों को मिटाने के लिए शंकराचार्य ने पंचायतन-पूजा शुरू की, जिसे कहते हैं – शं ना र ग दे। उसका अर्थ है, शंकर, नारायण, रवि (सूर्य), गणपति और देवी।

मैंने भी इन दिनों पंचायतन का अभिध्यान शुरू किया है। लेकिन मेरा शंनारगदे अलग है। वह इस प्रकार है। शं यानी शंकर है **ब्रह्मविद्या**। शंकर सबका कल्याण करनेवाला होता है। ब्रह्मविद्या के बिना हमारा कभी कल्याण होनेवाला नहीं। जिस किसी ने माना होगा कि हमारा यह आंदोलन आर्थिक और सामाजिक है, वे बिलकुल ही समझे नहीं हैं। वह बिलकुल 'वन साइडेड व्ह्यू' (एकांगी दृष्टि) हैं। हमारा यह आंदोलन आध्यात्मिक है, ब्रह्मविद्या का है। इसलिए ध्यान, प्रार्थना, चिंतन, मनन, आत्मपरीक्षण, चित्तशुद्धि के लिए प्रयत्न यह सब निरंतर होते रहना चाहिए। दूसरा है ना, नारायण नर समूह का देवता है, इसलिए ना यानी **ग्रामस्वराज्य**। तीसरा र – रवि, सूर्य। वह है **शांतिसेना**। सूर्य की किरणें चारों ओर फैलती हैं, वैसे हमारी शांतिसेना सारे भारत में फैले। चौथा ग – गणपति। यह विद्या का देवता है। तो ग यानी **आचार्य-कुल**। और पांचवां है दे यानी **देवनागरी लिपि**।

शं – ब्रह्मविद्या

बचपन से हमको ब्रह्मविद्या का आकर्षण रहा है। मैंने अपने जीवन की 21 साल की उम्र में ब्रह्मजिज्ञासा की जिस वासना से घर छोडा था, वह वासना अब नहीं है। मतलब यह कि वह वासना अब सामूहिक हो गयी है। अब 'व्यक्तिगत मैं' नहीं, परंतु समूहरूपेण जो मैं हूं उस दृष्टि से चाहता हूं कि आज की दुनिया में और भारत में ब्रह्मविद्या बढनी चाहिए। उसके बिना मैं खतरा देखता हूं। विज्ञान इम्मॉरल, न नैतिक, न अनैतिक (नायदर मॉरल नॉर् इम्मॉरल); ऐसी एक तटस्थ आधिभौतिक शक्ति है। इसके साथ ब्रह्मविद्या जुडनी चाहिए। ब्रह्मविद्या की पूर्ति के बिना हमारा विचार अखंड प्रवाह में नहीं बहेगा। ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में बहनों का प्रवेश हो, बहनों को भी संन्यास का अधिकार प्राप्त हो और भारत की एकांगी ब्रह्मविद्या की पूर्ति हो, इस विचार से मैंने ब्रह्मविद्या-मंदिर शुरू करने का तय किया। ब्रह्मविद्या-मंदिर में बहनों की सामूहिक चित्त-निर्माण की साधना चले।

साम्ययोग का विचार मुख्यरूप से आध्यात्मिक आंदोलन है। चित्तशुद्धि और हृदय-परिवर्तन का आंदोलन है। जिन्होंने इसे केवल आर्थिक और सामाजिक माना, वे एकांगी हैं। इसलिए सेवा, भक्ति और ब्रह्मविद्या का विकास करना चाहिए। हमारा अंतिम अभिधेय 'परम साम्य' है। सबको हमें साथ लेना है। यह युग 'सामाजिक समाधि' का युग है। पूरा समूह ऊंचा उठना चाहिए। यह सारा क्षेत्र ब्रह्मविद्या की उपासना का है।

महापुरुषों के जीवन के अनुभवों को सामाजिक रूप मिलना चाहिए। जैसे मनुष्य को व्यक्तिगत समाधि से कोई क्लेश नहीं रहता, वैसे ही सामाजिक समाधि प्राप्त होनी चाहिए, जिससे समाज में कोई क्लेश न रहे। आज हमारे समाज तथा दुनिया में कई प्रकार के क्लेश, संघर्ष और झगडे चल रहे हैं। उनसे मुक्ति पा कर सामाजिक समाधि का समाधान प्राप्त करना चाहिए।

जैसे पूंजी एक जगह रहती है तो समाज का कोई काम नहीं बनता, वह हरएक घर पहुंचने पर ही समाज का कल्याण होता है, वैसे ही समाधि का लाभ समाज को मिले तभी समाज का स्तर ऊपर उठ सकता है। हमें सामाजिक क्लेश का निर्मूलन कर के समाज में शांति, समृद्धि स्थापित करना है। सालों पहले हमने विचार-पोथी में लिख रखा था कि हमें अमावस्या की रात अत्यंत प्रिय है क्योंकि उसमें असंख्य तारिकाओं को अपना तेज झिलमिलाने का मौका मिलता है। पूर्णिमा की रात को पूर्णचंद्र का एकचक्री साम्राज्य फैला हुआ रहता है। क्या मजाल है किसी सितारे की कि वह अपना तेज निखारे ? हम भी समाज में चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास का पूरा मौका मिले।

फिर हमने यह विचार भी रखा है कि अध्यात्म की शक्ति विज्ञान के साथ जुडनी चाहिए। आज का धर्म वैज्ञानिक धर्म होगा। विज्ञान और अध्यात्म के मार्गदर्शन में अगर दुनिया चलेगी तो दुनिया में शांति रहेगी। भूदान-यज्ञ का जो आरोहण कार्य देश में चला, वह ब्रह्मविद्या का ही प्रसार था। अपने छोटे 'मैं' को फैला कर समाज तक आगे बढने का विचार भूदान-ग्रामदान की बुनियाद में रहा। ब्रह्मविद्या का वह अप्लाइड (विनियुक्त) स्वरूप, अमलीकरण ही था।

शंकराचार्य ने अध्यात्म की व्याख्या करते हुए गाया है कि –

> गेयं गीता नामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्
> नेयं सज्जन संगे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्

दीन-दुखियों को मदद करना, शंकराचार्य ने यह कार्य अध्यात्म में गिना। गांधीजी ने हमें जो काम सौंपा, वह दीनदुखियों की सेवा का ही है। दरिद्र को हम नारायण जरूर समझें, परंतु दारिद्रय को मिटाने का पुरुषार्थ करें। समाज का जो सबसे नीचे का तबका है, उसकी सेवा के ख्याल से खादी, ग्रामोद्योग, गोरक्षा, शराब-बंदी, हरिजन-सेवा, गिरिजन, कुष्ठरोगियों की सेवा ये सारे कार्यक्रम गांधीजी ने दिये।

ना – ग्रामस्वराज्य

फिर ग्रामस्वराज्य का काम। पहले 'ग्रामराज्य' शब्द चला। परंतु उसमें दोष मालूम हुआ, इसलिए हमने 'ग्रामस्वराज्य' शब्द निकाला। वेद में सूर्य को **स्वराट्** कहा है, वह स्वयंप्रकाशी है। चंद्र को **अन्यराज्** कहा है। वह दूसरे के प्रकाश से विराजमान है। स्वराज शब्द बहुत सुंदर अर्थ बतानेवाला है और उन ऋषियों ने भी जो कि सामाजिक दृष्टि से पराधीन नहीं थे, कहा था – **यतेमहि स्वराज्ये** उनके लिए स्वराज यत्न की बात हो गयी थी। ऐसे व्यापक अर्थ का ग्रामस्वराज्य शब्द है।

ग्रामस्वराज्य के लिए हमने जो ग्रामदान का कार्यक्रम चलाया, उसके बारे में मैसूर में सर्वपक्षीय एक ग्रामदान परिषद हुई जिसमें दो दिन चर्चा कर के एक संहिता परिषद की ओर से निकली। उसमें

दो शब्द हैं जो हमारे लिए द्विविध आशीर्वाद हैं। उसमें लिखा है कि विनोबा ने सामाजिक मसले हल करने के लिए जो अहिंसात्मक और सहयोगी पद्धति अपनायी है, वह हमें मान्य है।

इसमें जो अहिंसात्मक पद्धति कही, वह प्राचीन आशीर्वाद है और जो सहयोगी पद्धति कही, वह आधुनिक आशीर्वाद है। अहिंसात्मक पद्धति आत्मा की एकता के अनुभव पर और सहयोगी पद्धति विज्ञान पर आधार रखती है। चीनी लेखक लाओत्से ने चीन के प्राचीन आदर्श गांवों का वर्णन किया है कि वे गांव पूर्ण स्वावलंबी थे। उनको आसपास की बस्तियों की जरूरत ही नहीं पडती थी। बल्कि दूर से कुत्ते के भौंकने की आवाज आती थी तो अंदाज लगाया जाता था कि वहां भी हमारे जैसा ही गांव होगा। क्योंकि कुत्ता अक्सर मनुष्यों के साथ रहता है। कुत्ता भौंक रहा है, मतलब वहां लोग होंगे। वैज्ञानिकता के अभाव के कारण यह अहिंसक योजना थी और दूसरी है स्टालिनवाली योजना। जिसमें योजना ऊपर से तैयार होगी, गांववाले उसका अमल मात्र करेंगे। उसमें आध्यात्मिकता नहीं। परंतु ग्रामदान में ये दोनों समाविष्ट हैं।

नमूनावादी लोग हमें कहते हैं कुछ गांवों में ग्रामस्वराज्य का नमूना पेश कीजिए। स्वराज्य आंदोलन के समय अगर विदेशी सरकार यह कहती कि स्वराज्य का एक आदर्श नमूना किसी जिले में कर के दिखाओ तो वह हमें कभी मान्य नहीं होता। उन्होंने तो ऐसा न कहते हुए दूसरी ही बात कही कि स्थानिक स्वायत्त सरकार बनाइए। पर हम लोगों ने जवाब दिया कि 'स्वराज्य की तृष्णा सुराज्य से शांत नहीं होती।' भले आपका सुराज्य होता और शासन-प्रबंध में किसी तरह की कोई शिकायत न रहती, तो भी हम स्वराज्य

ही चाहते। क्योंकि स्वराज्य का एक स्वतंत्र मूल्य है। स्वराज्य का जितना स्वतंत्र मूल्य सिद्ध हो सकता है, **ग्रामस्वराज्य का मूल्य उससे कहीं अधिक सिद्ध हो सकता है।** आजकल किसी एक राष्ट्र की स्वतंत्रता का मूल्य सापेक्ष हो गया है। इसी लिए विश्वराज्य होगा, तभी विश्वशांति होगी। हमारे राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् कहते थे कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी स्वतंत्रता का एक-एक अंश विश्वराज्य के लिए देना चाहिए। सारांश, राष्ट्रीय स्वतंत्रता का मूल्य विश्व में स्थिर है, पर उससे भी ज्यादा स्थिर मूल्य ग्रामस्वराज्य का है।

र–शांति-सेना

फिर र यानी रवि अर्थात् सूर्य; वह है शांति-सेना। आज सारी दुनिया की मूल समस्या शांति-स्थापना की है। शायद ही किसी जमाने में दुनिया को आज जैसी शांति की भूख रही हो। जो देश कल तक हिंसा के विचार में डूबे हुए थे, वे भी आज हिंसा से मुक्ति पाना चाहते हैं। मन में समझे हुए हैं कि हिंसा से कुछ भी होने-जानेवाला नहीं। जिन देशों में खूनी क्रांति हुई है, वे भी आज शांति चाहते हैं। इसका कारण यह है कि अभी तक शस्त्रास्त्र मानव के हाथ में थे, लेकिन अब वे उसके हाथ में नहीं मानव ही उनके हाथ में पहुंच गया है। इसलिए आज अगर विश्वयुद्ध छिड जाये, तो उसका नियंत्रण कोई भी नहीं कर सकेगा। इसलिए आज मनुष्य के मन की परिस्थिति ऐसी है कि हिंसा पर से उसका विश्वास उठ गया है, परंतु अहिंसा पर अभी तक विश्वास बैठा नहीं। ऐसी संदिग्ध मनःस्थिति में दुनिया आज है। इसलिए अब शांति से मसले हल हो

सकते हैं, इसके प्रयोग कर के मार्ग निकालना होगा। इसी के लिए है यह शांतिसेना की योजना।

मनुष्य के चित्त में अभी तक अहिंसा और करुणा पर अंतिम श्रद्धा नहीं वैठी है। जहां परस्पर झगडा होता है, वहां सामपूर्वक कार्य नहीं सफल हुआ तो आगे का रास्ता दंड का ही सूझता है। उससे भी काम नहीं हुआ तो अधिक दंड, फिर अधिकाधिक दंड की योजना होते-होते आखिर हम अणुशस्त्र तक पहुंच गये। अभी तक हमें यह ध्यान में नहीं आया है कि यह दंडशक्ति विश्वसनीय नहीं, दगा देनेवाली शक्ति है। मसला हल करनेवाली शक्ति नहीं है, इसका हमें भान नहीं हुआ। हिंसा शक्ति ने अति उग्र रूप धारण किया, इसवास्ते कुछ डर है और मन कुछ डांवाडोल है। परंतु चित्त में जो विश्वास दंड और हिंसा पर है, वह अभी तक अहिंसा पर वैठा नहीं है। यह हमारी मुख्य कमजोरी है।

आज हमारे समाज में करुणा, अहिंसा नहीं है सो वात नहीं। करुणा नहीं होती तो जीवन जीनेलायक ही नहीं रहता। आज हम मानो नृसिंहावतार में हैं। न पूरे हिंसावाले हैं, न समूचे अहिंसावाले। वीच की हालत में हम हैं। हमारे समाज में भी जव कभी तनाव खडा होता है तो आरंभ में वातचीत चलती है, परंतु वाद में हिंसा का ही आश्रय लिया जाता है और दंगे फूट निकलते हैं।

आज उत्तरोत्तर दंगे वढते जा रहे हैं। उनमें जनता की ओर से जव हिंसा होती है तो उससे हमारा दिल व्याकुल हो जाता है। लोग जागतिक युद्ध से डरते हैं, लेकिन मैं तो उसे 'डिवाइन' (दैवी) युद्ध ही कहता हूं। क्योंकि परमेश्वर जव संहार चाहता है तभी वह

जागतिक युद्ध लायेगा । भगवान कृष्ण का अवतार भू-भार-हरण के लिए ही हुआ था । इसी लिए जागतिक युद्ध की हमें जरा भी चिंता नहीं है । हमें चिंता है छोटी-छोटी हिंसा की ।

समाज में करुणा का साम्राज्य बने इस दिशा में हमने करुणा-मूलक साम्य की स्थापना का काम तो उठाया ही है, जिससे कि समाज में से अशांति के मूल कारणों का निरसन हो । भूमिहीनों का हक छीन लेना, गरीबों का शोषण, वैषम्य आदि हिंसा के गर्भित कारण हैं । उनके निवारण के लिए हमारी कोशिश जारी है और समाज के एक बहुत बडे अन्याय के सामने हम लड रहे हैं, जिसकी पद्धति अहिंसा की है । हमारा काम ही 'शांतिमय क्रांति' का है ।

परंतु सवाल यह है कि जब तक वह सिद्ध नहीं होती, तब तक समाज में हिंसा फूट कर जो अशांति पैदा होती है उसमें क्या हम साक्षी बने रहेंगे? हमने क्रांति की शांतिमय प्रक्रिया चलायी है, उसकी वृद्धि के लिए हम शांति का जिम्मा उठायें यह जरूरी है। हम क्रांतिकारी के साथ-साथ शांतिकारी बनेंगे, तभी दुनिया में विश्वास पैदा होगा ।

इसलिए हमें हिंसा का विकल्प ढूंढना होगा । हिंसा में सैनिकों की हिंसक सेना है, वैसे हमें भी शांति-सेना बनानी होगी । हिंसावालों ने बंदूक बनायी, तो हमें चरखा बनाना पडेगा । वे तलवार बनाते हैं, तो हमें कुदाली की जरूरत पडेगी । ग्रामस्वराज्य का सारा काम रचनात्मक शक्ति का कारखाना है और इसमें जो शांति-सेना है, वह अहिंसा के अनुशासन में रह कर शांतिरक्षा का काम करेगी । रामकार्य सिद्ध करने के लिए हनुमान के बिना नहीं चलेगा । रामराज्य के लिए शांति-सेना होना अनिवार्य है । अहिंसा का जो अनुशासन होगा

वह हिंसक सेना से थोडा-सा भी कम नहीं होगा। अहिंसा में संकेत ही आदेश होता है।

शांति-सेना का विचार पुराना है। बापू की इच्छा थी कि भारत में शांति-सेना कायम हो। वे शांति-सेना के पहले सेनापति और सैनिक थे। महसूस करते थे कि हमेशा के लिए 'सेवा-सेना' रहनी चाहिए। जब समाज में अशांति हो जाये, तब वहां पहुंच कर शांति स्थापना का प्रयत्न 'शांति-सेना' करे। तेलंगना में जब हिंसा फूट निकली और मेरा वहां जाना हुआ, तब मैंने जाहिरा तौर पर यही कहा था कि वहां मैं एक शांति-सैनिक के नाते जा रहा हूं।

कुछ लोगों को यह 'सेना' शब्द चुभता है। परंतु यह शब्द वेद में आया है। **असेन्या वः पणयो वचांसि** – हे कृपण, आपका कहना असैन्य है, सेनारहित है। मतलब, तुम्हारे कथन में शक्ति, संगति नहीं है। 'सेना' शब्द का अर्थ है जिनमें संगति है, वैसे मरने के लिए इकट्ठे हुए लोग। इसलिए यह वेद:पूत शब्द है। समाज में जब तक स्वरक्षण की शक्ति नहीं आती, तब तक शांति-सेना की जरूरत रहेगी।

भारतीय शांति-सेना की निष्ठा इस प्रकार है – 1 सत्य-अहिंसा में निष्ठा 2. निर्भय, निर्वैर, निष्पक्ष वृत्ति 3. देश, धर्म, वंश, जाति, भाषा आदि में अभेद दृष्टि 4. सत्ता तथा पक्षीय राजनीति से मुक्ति 5. युद्ध का समर्थन न करना 6. अशांति शमन के लिए जान की जोखिम उठाने की तैयारी 7. शांति-सेना का अनुशासन पालन। इसके अलावा, शांति-सैनिक मतदान नहीं करेगा, यह प्रतिज्ञा भी समाविष्ट है।

इसमें एक निष्ठा निष्पक्षता की है। हिंसा की सेना में भी यह मान्य है कि सैनिक पक्षातीत हो और अपना मत न दे। वही बात अहिंसक सेना को भी उतनी ही लागू है। आज कल जो भी झगडे होते हैं उसमें एकदम धर्मभेद, जातिभेद और पक्षभेद उभर आते हैं और उनकी एक त्रिगुणात्मक रस्सी गठित हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में राजनीतियुक्त या पक्षयुक्त व्यक्ति वहां जा कर कैसे शांति करेगा? इसलिए शांति-सैनिक का पक्षमुक्त होना लाजमी है।

स्वराज्य के बाद बहुत सारे लोग या तो राजनीति में या सरकारी नौकरी में चले गये हैं। उन लोगों का विश्वास सत्ता पर है। उनका मानना है कि स्वराज्य के बाद अब सत्ता द्वारा सेवा होगी। दूसरे कुछ लोग जो सत्ता में नहीं जा सके हैं, वे सत्ताधारी लोगों की ईर्ष्या करते हैं। तीसरा एक प्रकार है, जो सत्ता से बाहर रह कर कुछ काम करते हैं।

जो रस पी कर सत्ताधारी पक्ष पुष्ट होता है, उसी रस से विरोधीपक्ष पुष्ट होता है, इसलिए सुधार करने के लिए कोई पक्ष नहीं रहता। इस सुधार के लिए जो पक्षमुक्त स्वतंत्र समाज होगा, उसमें से शांति-सेना बनेगी। वह सेवा भी करेगी, साथ-साथ उसका पक्षों पर नियंत्रण भी रहेगा। उसकी नैतिक सत्ता होगी। दोनों पक्षों के बीच संघर्ष हो, तब यह समाज स्नेहन का, तेल डालने का काम करेगा। ऐसा निर्भय, निर्वैर, निष्पक्ष समाज होगा, तभी जनतंत्र सुरक्षित होगा। जनतंत्र में जो दोष खडा हो सकता है, वह कम होगा और राज्यारूढ पक्ष पर प्रभाव रहेगा।

हम साम्ययोग में शासनमुक्त समाज और विचार-स्वातंत्र्य की बात कहते आये हैं, परंतु शांति-सेना में सेनापति का आदेश

मानना पड़ेगा। शांति-सेना का अनुशासन हिंसक सेना जैसा ही होगा। जब शासनमुक्त समाज बन जायेगा तब वह शांति-सेना-मुक्त भी हो जायेगा। स्थानिक लोग ही शांति-कार्य कर लेंगे। परंतु आज की परिस्थिति में यह प्रवाहप्राप्त कर्म है। गीता ने कहा है कि सहज कर्म सदोष हो तो भी करना चाहिए। अग्नि के साथ धुआं रहेगा ही।

शांति-सैनिक के दो कार्यविभाग होंगे। नित्य के लिए सेवा-कार्य, क्रांति-कार्य और विशेष प्रसंगों में, नैमित्तिक परिस्थिति में शांति-कार्य। जैसे नरसिंह महेता ने गाया है – **नित सेवा नित कीर्तन ओच्छव** – नितसेवा-कार्य और, निमित्त खड़ा हुआ तो **'रे शिर साटे नटवरने वरिए।'** प्राण का खतरा उठा कर भी शांति स्थापना का प्रयत्न करना है। इस प्रकार शांति-सेना में दोहरी निष्ठा, नित्य-निष्ठा और नैमित्तिक निष्ठा जरूरी होगी। समाज में अशांति ही निर्माण न हो, इस प्रकार का मूलभूत कार्य उसका नित्य कार्य होगा। तिस पर भी कभी अशांति फूट निकली तो शांति-स्थापना का काम उसका नैमित्तिक कार्य होगा।

जैसे राष्ट्र में शांति-सेना हो, वैसे संयुक्त राष्ट्रसंस्था की ओर से भी निःशस्त्र शांति-सेना रखनी चाहिए। कुल दुनिया की जनसंख्या के हिसाब से दुनिया में सात लाख शांति-सैनिक चाहिए। अगर युनो इस प्रस्ताव का स्वीकार करता है तो मैंने कहा है कि भारत की ओर से एक लाख शांति-सैनिक खड़े करने का और उनका नेतृत्व करने का काम मैं उठा सकता हूं।

लड़ाई का समय न हो, तब यह अंतर्राष्ट्रीय शांति-सेना दरिद्रों की सेवा करें। शांति-सैनिकों का प्रशिक्षण भी हो। सब धर्मों का

साहित्य उनको पढाया जाये। परस्पर प्रेम करना, सभी धर्म में है। प्रशिक्षक की योग्यता यही होगी कि सामने से प्रहार आता हो तो छाती सामने करने की तैयारी होनी चाहिए।

लोकसम्मति के तौर पर सर्वोदय-पात्र

सरकार सेना रखती है, उसके पीछे लोगों की सम्मति होती है। सेना का खर्च लोगों से लगान के रूप में, चूंगी कर के रूप में वसूल किया जाता है। यह टॅक्स यानी लोक-सम्मति है। इस प्रकार किसी भी कार्य को प्रत्येक की सम्मति होना एक बडी शक्ति है। तो अहिंसा की स्थापना कार्य में भी लोक-सम्मति प्राप्त करनी होगी। लोगों का यह सम्मतिदान प्राप्त करने के लिए मैंने 'सर्वोदय-पात्र' का विचार रखा है। सर्वोदय-पात्र की कल्पना में लोक-सम्मति प्राप्त करने का क्रांतिकारी विचार है।

सर्वोदय-पात्र के काम में, हर घर में एक पात्र रखा जायेगा, जिसमें घर का सबसे छोटा बच्चा मुट्ठीभर अनाज डालेगा। इसमें भी एक क्रांतिविचार है। घर का छोटा बच्चा डालेगा, मतलब बचपन से ही उसको मां से संस्कार मिलेंगे कि समाज के लिए कुछ दे कर ही हमें भोगने का अधिकार है। तो समाज को देने का एक संस्कार पडेगा। दूसरा मां उसे यह भी सिखायेगी कि यह अनाज शांति-कार्य के लिए जायेगा। यानी बच्चों को यह दीक्षा मिलेगी कि हमें हिंसा नहीं करनी है। जो मुट्ठी सर्वोदय-पात्र में अनाज डालेगी, वह कभी हिंसा के लिए हाथ में पत्थर नहीं उठायेगी, इसलिए हमने कहा कि 'मुट्ठीभर अनाज और जगभर शांति'। इतना गर्भित रहस्य इस विचार में छिपा है।

क्रांतिकार्य के जो वाहक हैं, सेवक-वर्ग हैं उनके निर्वाह के लिए हमने 'जनाधार' की कल्पना दी है। सेवक किसी केंद्रित संगठन के आधार पर नहीं, बल्कि लोकसंपर्क के आधार पर जनाधारित बनेंगे। जनाधार का एक साधन होगा यह 'सर्वोदय-पात्र'। पांच हजार लोगों के बीच एक कार्यकर्ता हो तो उसे एक हजार घरों में सर्वोदय-पात्र चलाने होंगे। सामान्य राहत कार्यों में इन पैसों का उपयोग नहीं होगा। यह कोई मुष्टि-फंड नहीं है। गरीबों की गरीबी और अमीरों की अमीरी हमेशा के लिए मिटानेवाले मूलभूत क्रांतिकार्य में इसका उपयोग होना चाहिए।

इस कार्य में स्त्रियों की शक्ति अधिक काम में आ सकती है। शांतिरक्षा का कार्य बहनों के लिए सहज है। स्त्री में संस्कारिता, धर्मशीलता, भक्ति, मर्यादा, करुणा, अहिंसा आदि गुण विद्यमान हैं, तो सर्वोदय-पात्र के काम में यह स्त्री-शक्ति बहुत उपयोगी होगी। अपने घर में सर्वोदय-पात्र रखवा कर वह परिवार को सर्वोदय के पात्र बनायेगी और इस क्रांति को साकार करने के लिए घर-घर पात्र रखवायेगी।

इस प्रकार इसमें तीन उद्देश्य निहित है। (1) अशांति के कार्यों में हिस्सा न लेने की निषेधात्मक प्रतिज्ञा, (2) अहिंसक समाजरचना के लिए सक्रिय मतदान और (3) पूरे भारत के छोटे बच्चों की संस्कार-दीक्षा की व्यवस्था। सरकार का टैक्स कंपलसरी है, लेकिन यह वालंटरी, स्वैच्छिक है। अहिंसा में वालंटरी कंपलसरी से भी अधिक कंपलसरी होता है, यह अलग बात। फिर कर्ज की जगह संपत्तिदान, कानून की जगह करुणा, शस्त्र-सेना की जगह शांति-सेना, हिंसा की जगह अहिंसा, ये सारे विकल्प समाज में खड़े होंगे।

ग = आचार्य-कुल

हमें भारत के आचार्यों से बहुत बडी अपेक्षा है। आचार्य-कुल यानी आध्यात्मिक दृष्टि से लोकनीति के आधार पर संगठन। तटस्थ विद्वानों का सर्वसम्मत विचार योग्य शब्दों में मिलेगा तो देश बचेगा। आचार्य तटस्थतापूर्वक, एक राय हो कर जो निर्णय देंगे, उसका मूल्य होगा।

आज हमारे देश की और दुनिया की परिस्थिति अत्यंत डावांडोल और शोचनीय है। सार्वजनिक जीवन के विषय में जितनी खराब घटनाएं लॉजिकलि (एक के बाद एक) हो सकती हैं, उतनी सब हो रही हैं। इसलिए अंदर से बहुत वेदना का अनुभव होता है। लेकिन मैं हंसता ही रहता हूं। वह इसलिए कि रोना वाजिब नहीं है, अगरचे हालत रोनेलायक है और इसलिए भी कि मुझे इसका उपाय सूझा हुआ है। यह उपाय अगर लोगों को सूझेगा तो सारे भारत में आनंद होगा। इस आनंदमय निश्चित भविष्य को ध्यान में रख कर मैं हंसता हूं।

हमारे तीन प्रकार के दुःखों का हमें निराकरण करना है। एक है – दारिद्रय। हमारे प्रयत्नों के बावजूद दारिद्रय कुछ बढा ही है। पांच-पांच पंचवर्षीय योजनाएं हो जाने के बावजूद परिस्थिति यह है कि इस देश के अमीर अधिक अमीर होते जा रहे हैं और गरीब अधिक गरीब। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्य आनंद को उपदेश दिया था कि भूखे के लिए रोटी यही ब्रह्मज्ञान है। हमें यह भूलना नहीं चाहिए।

दूसरी बात यह कि देश में 'स्वदेशी-धर्म' बिलकुल खतम हो गया है। जहां बच्चों के लिए दूध की पावडर ही बाहर से आती है, उस हालत में स्वदेशी का क्या नाम लें और कैसे कहें कि भारत अपने पांव पर खडा है। अनाज अमरीका से आता है। दूसरी भी कई चीजें बाहर से मंगवाई जाती हैं। चीजें खरीदते समय हम सोचते ही नहीं कि यह चीज कहां से आयी है। लेकिन इसके लिए भारत को विदेश से कितना खरीदना पडा है, दुनिया में उसको कितना घृणित होना पडा है, बाहर से कितना राजनैतिक दबाव आता है, यह सब सोचते ही नहीं। हमने यहां तक देखा है कि बाहर से कुछ इस्तेमाल किया हुआ माल यहां सस्ते दाम में बेचा जाता है और हमारे लोग उसे खरीदते हैं। सार यह है कि अपने देश में 'स्वदेशी धर्म' खतम हुआ है।

जहां तक तालीम का ताल्लुक है, जितनी गलतियां हम कर सकते थे, उतनी हमने कीं। एक भी गलती करना बाकी नहीं रखा और शिक्षा, जो सभी समस्याओं का निराकरण करनेवाली चीज मानी जाती थी, वह स्वयं एक बहुत बडी समस्या बन गयी, इससे ज्यादा अब क्या कहा जाये?

इसके अलावा, हमने जो सामाजिक व्यवहार किया, वह भी अत्यंत दोषास्पद था। जगह-जगह पर दंगे होते रहे, लोगों की ओर से हिंसा होती रही, इधर सरकार की ओर से गोलियां चलती रहीं। यह तो सहन कर लिया। परंतु जब विश्वविद्यालयों की रक्षा के लिए पुलिस बुलानी पडी, तब तो हद हो गयी। आचार्यों के लिए यह लांछन है। लोगों का विचार-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन और जीवन-परिवर्तन करनेवाली आचार्यों की जमात को ही पुलिस बुलानी पडे तो यह निश्चित दुःख के लायक लांछन की बात है। सरकार के

पास एक होता है – शिक्षा विभाग, जिसको हम अशांति-शमन-विभाग कह सकते हैं और दूसरा होता है – अशांति-दमन-विभाग अर्थात् पुलिस, सेना आदि। अशांति का शमन होता है तो दमन की जरूरत नहीं रहती है। परंतु वेदना की बात है कि जहां से शमन होना चाहिए था, वहीं अशांति हुई, और उसके दमन के लिए पुलिस बुलानी पडी।

इसका कारण यह है कि आज आचार्यों की शक्ति बनी नहीं। भारत में प्राचीन काल से आज तक आचार्यों की एक बहुत बडी परंपरा चली आयी है, जिनका हम गौरव कर सकते हैं। आचार्य शब्द, शंकर रामानुज आदि के लिए इस्तेमाल हुआ है। परंतु आज तो मराठी भाषा में आचार्य सामान्य 'आचारी' हो गया है, जिसे हिंदी में रसोइया कहते हैं। फिर से हमें आचार्यों की शक्ति बनानी होगी। आचार्यों को अपनी हैसियत ऊंची उठा कर सारे देश की जिम्मेवारी लेनी होगी। यह जिम्मेवारी नैतिक जिम्मेवारी होगी। सरकार की जिम्मेवारी अपने स्थान पर है, लेकिन उसके बाद अगर किसी की जिम्मेवारी आती है तो वह आचार्यों की है। लोगों ने सरकार को वोट और लगान दोनों दिया है, इसलिए लोग भले सरकार की पहली जिम्मेवारी मानें। पर जरा तटस्थ बुद्धि से देखा जाये तो माना जायेगा कि प्रथम जिम्मेवारी आचार्यों की है। क्योंकि वह ज्ञानी-वर्ग है। उनके नेतृत्व में, मार्गदर्शन में सारे देश का कारोबार चलना चाहिए। यह नहीं कि कानूनी तौर पर वे दखल दें। लेकिन सरकार को, जनता को, देश को यह महसूस होना चाहिए कि किसी विषय पर आचार्यों का जो सर्वसम्मत अभिमत होगा, उसकी ओर ध्यान न दिया जाये तो देश खतरे में रहेगा।

केवल विश्वविद्यालयों को ही नहीं, सारे भारत को अपना 'केम्पस' (परिसर) मान कर आचार्यों को जिम्मेवारी उठानी होगी। प्रश्न था कि प्राध्यापक, आचार्य, प्राचार्य द्वारा यह जो काम करना है, उसका नाम क्या रखा जाये? मैंने 'आचार्य-कुल' नाम सुझाया। उससे बेहतर नाम की कल्पना मैं नहीं कर सका। 'कुल' शब्द परिवारवाचक है और सभी आचार्यों का एक ही परिवार है। ज्ञान की उपासना करना, चित्तशुद्धि के लिए प्रयत्न करना, विद्यार्थियों के लिए वात्सल्य भावना रख कर उसके विकास के लिए सतत प्रयत्न करते रहना, सारे समाज के सामने जो समस्याएं आती हैं, उन पर तटस्थ भाव से चिंतन कर के सर्वसम्मत निर्णय समाज के सामने रखना और इस प्रकार समाज को मार्गदर्शन करने का काम एक परिवार का ही काम है। इसलिए मैंने 'आचार्य-कुल' नाम रखा। इसके अलावा 'कुल' शब्द का अरबी और लेटिन अर्थ भी कुल है। कुल के कुल आचार्यों का बोध इसमें होता है।

'आचार्य' शब्द पुरातन है और व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। आचार्य-कुल में प्राचार्य, प्राध्यापक, शिक्षक तो होंगे ही, साथ ही वैज्ञानिक, साहित्यिक, न्यायाधीश, पत्रकार आदि जो भी पक्षमुक्त हों, तटस्थ बुद्धि रखनेवाले हों, मार्गदर्शन दे सकते हैं। समत्वयुक्त चिंतन करते होंगे ऐसे विद्वान, अध्ययनशील, चारित्र्यवान् जो भी लोग होंगे वे इसमें समा सकेंगे।

'आचार्य-कुल' अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए नहीं है। अपने कर्तव्य के प्रति जागृत रह कर उस दिशा में प्रयत्न करने के लिए है। विज्ञानयुग में हम जीते हैं तो आचार्यों को अपना दिमाग और दिल, दोनों व्यापक करने होंगे और बुद्धि को तटस्थ रखना

होगा। जो मनुष्य पर्वत पर चढा है, वह संपूर्ण भूमि अच्छी तरह देख सकता है और वहीं से अच्छा मार्गदर्शन कर सकता है।

आजकल सभी क्षेत्रों में राजनीति की घुसपैठ हुई है, उससे शिक्षण संस्था भी बची नहीं है। आचार्य-कुल का काम **राजनीति पर नियंत्रण रखने** का है, उसमें दाखिल होने का नहीं। ऐसी हालत में आचार्यों को राजनीति से मुक्त रहना चाहिए। यह आचार्यों का स्वधर्म है। जब तक वे अपने को राजनीति से मुक्त नहीं रखेंगे तब तक उनकी तारक, प्रेरक और पूरक शक्ति प्रकट नहीं होगी। इसलिए मैंने आचार्य-कुल की निष्ठा के तौर पर जब निर्भय-निर्वैर रखा, उसके साथ-साथ 'निष्पक्ष' भी जोड दिया। आचार्य-कुल के सदस्य निष्पक्ष तो रहेंगे ही, साथ में वे अपना मताधिकार का भी उपयोग नहीं करेंगे। उनको मत का अधिकार, चुनाव में खडा रहने का अधिकार तो है ही, परंतु उस अधिकार का उपयोग न कर के आत्यंतिक निष्पक्षता सिद्ध करेंगे। ऊंचे उद्देश्य से प्रेरित हो कर अपने प्राप्त अधिकारों को छोड देते हैं तो योग्यता ऊंची बनती है। भगवान बुद्ध ने कहा कि जो पर्वत के शिखर पर चढा हुआ है वह एकदम तटस्थ, अलिप्त और उदासीन हो कर देखता है। उत्+आसीन् यानी ऊंचा, ऊपर बैठा हुआ। वे ही समाज को मार्गदर्शन करेंगे।

अनुशासन आचार्यों का

हमारे यहां प्राचीन काल से परंपरा चली है, **'दंड यतिन कर'** यानी जो यति हैं, संन्यासी हैं, उनके हाथ में शासकों का दंड रहेगा। इसका अर्थ यह है कि संन्यासी लोग अपने हाथ में दंड नहीं लेंगे

लेकिन सत्ता उनकी बात मान कर चलेगी, सत्ता उनके कहे में होगी। इतिहास में देखा गया है कि राजा साधु-संन्यासियों के मार्गदर्शन में चलते थे।

अनुशासन-पर्व शब्द महाभारत में आया है, परंतु उससे पहले भी वह उपनिषद् में था। प्राचीन काल में रिवाज था, बारह साल ब्रह्मचर्य पालन करने के बाद जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहते थे वे गृहस्थाश्रम में जाते थे और जो हमेशा के लिए ब्रह्मचारी रहना चाहते थे वे गुरु के साथ ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताते थे। जो घर जाना चाहते थे उनको आचार्य अंतिम उपदेश देते थे, सत्यं वद, धर्मं चर इत्यादि। उसके अंत में जिक्र आया है, एतत् अनुशासनम्। यह है अनुशासनम्। एवं उपासितव्यम्। इस अनुशासन पर आपको जिंदगीभर चलना है। तो आचार्यों का होता है अनुशासन और सत्तावालों का होता है शासन। शासन और अनुशासन में जो फर्क है, वह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। अगर शासन के मार्गदर्शन में दुनिया रहेगी तो दुनिया में कभी भी समाधान होनेवाला नहीं। क्या होगा? बंगला देश की समस्या सुलझ गयी, जाहिर हो गया। फिर सुलझने के बाद उलझ गयी। सुलझी हुई उलझी। यह तो आपने तमाशा देखा भारत में। वही दुनियाभर में है। क्या होता है? हर जगह शासन में लोग जाते हैं, उनके मार्गदर्शन में काम करते हैं, कहीं कत्ल होता है, कहीं खून होता है। किसी देश के मुख्यमंत्री को मार डाला, किसी देश के राष्ट्राध्यक्ष को मार डाला। यह रोजमर्रा खबरें प्रेस में आया करती हैं। और ऐसे कितने शासन चलते हैं दुनियाभर में? मुझे ठीक याद नहीं है, लेकिन 'ए' से ले कर 'झेड्' तक। अफगानिस्तान से आरंभ होता है और झांबिया तक चलता है। मेरा ख्याल है, ३००-३५० शासन होंगे। और उनके

यहां गुटबंदी होती है। ये उस गुट में आ गये, वे उस गुट में आ गये। और ये जो बडी ताकतें हैं, अमरीका इत्यादि, वे इन गुटबंदियों का उपयोग करती हैं। कभी इस गुट को समर्थन देती हैं, कभी उस गुट को समर्थन देती हैं। इस तरह से दुनियाभर में सबदूर असंतोष, मारकाट, जारी है। और ये बडी शक्तियां क्या करती हैं? सबदूर थोडा-थोडा असंतोष रहे, ऐसी कोशिश करती हैं। एक बाजू जितनी पॉवर (शक्ति) है, उतनी दूसरी बाजू पॉवर करना। मान लीजिए हिंदुस्तान में एक शक्ति है, तो कोशिश करेंगे वे बडे राष्ट्र, कि पाकिस्तान को भी उतनी शक्ति दी जाये। शक्ति यानी हथियार वगैरह जो लेटेस्ट – उत्तम से उत्तम हथियार हैं, वे देना। दोनों बाजू 'बॅलन्स ऑफ पॉवर' (शक्ति का संतुलन) हो जायेगा, ऐसा कहते हैं। 'बॅलन्स ऑफ पॉवर' से दुनिया त्रस्त हो गयी है। यह रोजमर्रा हम पढते हैं। अब यहां तक बात आ गयी है 'बॅलन्स ऑफ पॉवर' की, कि 'बॅलन्स ऑफ इम्बॅलन्स' (असंतुलन का संतुलन) भी वे करना चाहते हैं। एक जगह जितना दुःख है उतना दुःख दूसरी बाजू होना चाहिए, तब दुनिया में शांति होगी ऐसा कहते हैं! एक बाजू जितना सुख है उतना सुख दूसरी बाजू पैदा हो, यह मामूली बात है। परंतु एक बाजू में जितनी विषमता है, जितना दुःख है उतनी विषमता, उतना दुःख दूसरी बाजू में पैदा होना चाहिए, तो 'बॅलन्स ऑफ इम्बॅलन्स' हो गया। यहां तक वे लोग चले गये हैं। शासन के आदेश के अनुसार चलनेवालों की यह स्थिति है। उसके बदले अगर आचार्यों के अनुशासन में दुनिया चलेगी तब तो दुनिया में शांति रहेगी। आचार्य होते हैं, जिनका मैंने वर्णन किया है, गुरु नानक की भाषा में, निर्भय, निर्वैर और उसमें मैंने जोड दिया है निष्पक्ष। और जो कभी अशांत होते नहीं। जिनके मन में क्षोभ

कभी नहीं होता। कभी उपवास करना, कभी किसी पर दवाव डालना, इत्यादि काम वे जरा भी नहीं करते। हर वात में शांति से सोचते हैं। और जितना सर्वसम्मत होता है विचार, उतना लोगों के सामने रखते हैं। उस मार्गदर्शन में अगर लोग चलेंगे तो लोगों का भला होगा और दुनिया में शांति होगी। यह अनुशासन का अर्थ है, आचार्यों का अनुशासन! ऐसा आचार्यों का अनुशासन अगर दुनिया में चलेगा तो दुनिया में शांति होगी। लेकिन दुनिया की वात छोड दीजिए, फिलहाल भारत तक ही सीमित रह कर बोलिए। भारत वहुत वडा देश है, पंद्रह भाषाओं का देश है। इसवास्ते भारत में भी आचार्यों का अनुशासन अगर लोगों को मिलता रहे और उस अनुशासन के मार्गदर्शन में प्रजा अगर चले तो प्रजा में शांति रहेगी, इसमें कोई शंका नहीं हो सकती। और वह जो मार्गदर्शन देंगे आचार्य, उनका अनुशासन, – उसका विरोध अगर शासन करेगा तो उसके सामने सत्याग्रह करने का प्रसंग आयेगा।

दे – देवनागरी लिपि

'दे' यानी देवनागरी लिपि। भारत की राष्ट्रीय एकता तथा परस्पर व्यवहार के लिए राष्ट्रभाषा के तौर पर भारतवासियों ने हिंदी को मान्य किया है। जिन कारणों से 'सवकी वोली' के रूप में उसका स्वीकार हुआ है, उन्हीं कारणों से नागरी का भी अपनी-अपनी लिपि के साथ सवकी लिपि के तौर पर स्वीकार होना चाहिए। हिंदुस्तान की एकता के लिए हिंदी भाषा जितना काम देगी, उससे देवनागरी लिपि ज्यादा काम देगी। एक जमाने में जोडने का काम

संस्कृत ने किया, वह काम आज हिंदी करे ऐसा अपेक्षित है, परंतु वह नहीं हो रहा है, बल्कि वह तो तोड रही है। इसका कारण यह है कि हिंदी भाषी लोग आलसी हैं, दूसरी भाषा सीखते नहीं। उनको घर बैठे मुफ्त में देशभक्त हो जाना है और चाहते हैं कि दक्षिणवाले हिंदी सीखें। इस कारण दक्षिण में हिंदी के लिए जोरों से प्रतिक्रिया हुई है। ऐसी परिस्थिति में जोडने का काम हिंदी भाषा से भी ज्यादा नागरी लिपि कर सकेगी।

योरप अनेक छोटे-छोटे देशों का एक खंड है और वहां आज एकत्रित आने की इच्छा जाग रही है। उन सबका एक कॉमन मार्केट बना है, आगे जा कर संरक्षण आदि भी कॉमन बनेगा। वहां यह हो सका, क्योंकि वहां एक ही लिपि चलती है, परिणामस्वरूप सब एक-दूसरों की भाषा कम समय में सीख सकते हैं। यह तो मेरा भी अनुभव है। मैं स्कूल में फ्रेंच सीखा, बाद भूदानयात्रा में अठारह दिनों में जर्मन सीख सका, क्योंकि लिपि एक ही थी।

हमारे यहां दक्षिण में चार, पूर्व में तीन भाषा और इनके अलावा गुजराती, मराठी, उर्दू, गुरुमुखी इत्यादि अनेक लिपियां हैं, उसके कारण सभी भाषाएं एक-दूसरी से दूर ही रहती हैं और परस्पर व्यवहार में भी बाधा खडी होती है। भिन्न-भिन्न प्रदेश के उत्तम साहित्य का परिचय जितना बढेगा, उतना जनता का दिल एक होगा। इस विशाल देश को जोडनेवाली एक कडी के रूप में एक लिपि हो, तो राष्ट्रीय एकता की दिशा में वह पहला कदम होगा।

आज भारत में लगभग साठ करोड लोग हैं, उनमें चौबीस करोड हिंदी, साढे चार करोड मराठी और पचास लाख नेपाली लोग होंगे। ये तीनों भाषाएं देवनागरी में लिखी जाती हैं। संस्कृत के

लिए भी वही लिपि है। उस हालत में इस देश की एक लिपि देव-नागरी ही हो सकती है।

इसलिए मेरा सुझाव है कि भारत की सभी भाषाएं देवनागरी लिपि में 'भी' लिखना आरंभ हो जाये। मैं 'भी' कहता हूं, 'ही' नहीं। दोनों लिपियां चलें। अपनी-अपनी लिपि तो रहे ही, अलावा कुछ पुस्तकें अलग-अलग भाषाओं की नागरी में भी प्रकाशित हों। अलग-अलग लिपियां सीखने में मैंने मेरी अपनी आंखें बिगाड़ीं। कर्तव्य-भावना से मैंने यह सहन किया। यदि ये सारी भाषाएं नागरी में भी लिखी जातीं, तो बहुत कम समय में सीखा जाता। इसलिए मेरा आग्रह रहा है कि भारत की सभी भाषाएं अर्थात् उन भाषाओं का उत्तमोत्तम साहित्य नागरी में भी प्रकाशित हो। नागरी लिपि दिलों को जोडने का काम करेगी।

भारत में नागरी चलेगी तो चीनी-जपानी को भी नागरी का स्वीकार सहज होगा। बाद में जावा, सुमात्रा में भी चल सकती है, परंतु पहले भारत का क्षेत्र तो नागरी में आये। आज चीनी-जपानी लोगों को दो हजार अक्षर सीखने पडते हैं, इसलिए वे रोमन की ओर मुड रहे हैं। दोनों के लिए नागरी लिपि जितनी आसान है उतनी रोमन नहीं। रोमन लिपि में अनेक गुण हैं, इसमें कोई संदेह नही। परंतु उसमें अनेक दोष भी हैं, और वे दोष इतने प्रबल हैं कि उनसे ऊब कर बर्नार्ड शॉ ने अंग्रेजी के लिए नयी लिपि के आविष्कार की इच्छा रखी थी और उसके लिए अपनी मिलकियत में से कुछ संपत्ति भी अलग रखी थी। शॉ की मांग के मुताबिक जो लिपि सूचित की गयी थी, उसमें नागरी के गुण लाने का प्रयत्न किया गया था।

रोमन लिपि में बिलकुल अराजकता है। 'न कार' ही लीजिए। 'एन् ओ' में 'एन्' से शुरू हुआ तो 'के एन् ओ डब्ल्यु' 'क्नो' में 'के' से शुरू हुआ, तीसरा 'जी एन् ओ डब्ल्यु' 'ग्नो' में 'जी' से शुरू हुआ। 'पि एन् इ यु एम् ओ एन् आय ए' 'न्यूमोनिया' में 'पि' से। इस तरह अत्यंत अव्यवस्था है। रोमन की जगह नागरी लिपि में अंग्रेजी शब्द-कोश आये तो क्रांति हो जायेगी। देवनागरी लिपि मेरे अभिध्यान का एक विषय है, मतलब उसके लिए इतनी उत्कटता मेरे चित्त में है।

भारत विभिन्नभाषी राष्ट्र है। इसलिए यहां मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों सीखनी होंगी। राष्ट्रभाषा के तौर पर हिंदी योग्य भाषा है। हमारे राष्ट्रपति रशिया जाते हैं तो हिंदी में बोलते हैं, इसलिए वहां उनकी इज्जत है। क्रुश्चेव, चाऊ-एन्-लाय आदि यहां आते हैं तो अपनी-अपनी भाषा में बोलते हैं, वैसे हमें भी विदेश में हिंदी में बोलना चाहिए। हमारी सरकार का कारोबार केंद्र और प्रदेशों में अंग्रेजी में चलता है। इससे दो प्रकार के गुनाह होते हैं। पहला तो यह कि हमारे किसान सरकार का कारोबार नहीं समझते हैं और दूसरा यह कि इंग्लैंड के लोग इसे घर बैठे समझ सकते हैं। आज आप रशिया और चीन का कारोबार नहीं जानते हैं। मैं इस मत का नहीं हूं कि कारोबार छिपाया जाये, लेकिन अंग्रेजी में कारोबार चलने से हम एक तरह से खतरा उठाते हैं। अंग्रेजी हटानी है तो देश को उसके लिए तैयार करना पडेगा।

मेरी दक्षिण भारत की पदयात्रा के दौरान एक बडे नगर में जाना हुआ, जहां हिंदी का सख्त विरोध था। मैंने वहां हिंदी में व्याख्यान देते हुए कहा, भारत के अध्यात्म का इतिहास बताता है कि उत्तर-दक्षिण भारत का एक-दूसरे पर प्रभाव पडता आया है।

दक्षिण और उत्तर भारत के बीच क्रिकेट का खेल चल रहा है। प्रथम उत्तर भारत की 'ईनींग' चली। जैन मुनि, बौद्ध भिक्षु, वैदिक ब्राह्मण उत्तर भारत से दक्षिण भारत आये। जैनों ने तो कन्नड साहित्य का अनुवाद भी किया। इन सबका असर वहां पड़ा। उसके बाद दक्षिण से शंकर, रामानुज, मध्व, उत्तर में गये। उन्होंने उत्तर-भारत पर प्रभाव डाला। फिर महाभक्त कबीर, तुलसीदास रामानुज के ही अनुयायी थे। तो पुनः उत्तर भारत की 'ईनींग' चली। महा-कवि ठाकुर, विवेकानंद, रामकृष्ण, अरविंद, महात्मा गांधी सब उत्तर भारत के थे। अब दक्षिण की बारी है। इसके आगे विचार दक्षिण भारत से उत्तर भारत में पहुंचने चाहिए। दक्षिण के महा-पुरुषों की मातृभाषाएं अलग-अलग थीं, परंतु उन्होंने जितने भी बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे, सब संस्कृत में लिखे। उस समय भारत की भाषा संस्कृत थी। इसलिए संस्कृत भाषा से काम हो सका। परंतु अब संस्कृत भाषा साधारणजनों की भाषा नहीं रही, इसलिए अब यह पराक्रम हिंदी में करना होगा। अब 'इनिंग' की बारी दक्षिण की है। लेकिन वह तब बनेगा, जब हिंदी में व्यवहार होगा, क्योंकि आज राष्ट्रभाषा हिंदी है।

राष्ट्रीय एकता

अनेक भाषा-धर्म-पंथ-जाति का यह भारत एक विशाल देश है। इतने वैविध्य के साथ दूसरी जगह योरप जैसे द्वीप बने हैं, जबकि हमारा एक अविभाजित अखंड देश है और उसकी जो एकता है वह सांस्कृतिक है। दस हजार वर्षों से उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम को एकसाथ जोड़ने का काम यहां होता रहा है। इस

देश को एक बनाया है संतों ने । जब इस देश में यातायात के कोई साधन नहीं थे, तब भी कश्मीर से कन्याकुमारी तक और द्वारिका से दिब्रूगढ तक पैदल घूमनेवाले संत यहां पैदा हुए, जिनके कारण भारत की सांस्कृतिक एकता बनी रही ।

अनेकानेक सालों से आज तक एक भी दिन ऐसा नहीं गया होगा, जबकि हिमालय से लाये गंगाजल से रामेश्वर का जलाभिषेक न हुआ हो । तमिलनाड के अप्पर स्वामी जैन विचार का अध्ययन करने के लिए बारह साल बिहार में रहे । और भारत के दो बडे श्रेष्ठ पुरुष – कबीर और तुलसीदास दोनों रामानुज संप्रदाय के थे । महाराष्ट्र के ज्ञानदेव, तुकाराम, दोनों शंकराचार्य के शिष्य थे । यह सारा हुआ, क्योंकि रामानुज ने, शंकराचार्य ने संस्कृत में लिखा । और केवल लिखने से तो नहीं हुआ, सारा भारत पैरों से तय किया, तभी यह हुआ । यह सारा मैं इसलिए कह रहा हूं कि यह खूब समझ लेना चाहिए कि भारत एक बना, वह अंग्रेजी भाषा के कारण नहीं, वह संतों के कारण बना है, यहां के अध्यात्मिक विचारों के कारण बना है ।

यह ठीक है कि अंग्रेजी का भी महत्त्व है । लेकिन वह एक खिडकी जितना ही काम कर सकती है । खिडकी से बाहर का दर्शन होता है इसलिए मकान को उसकी जरूरत है परंतु बुद्धिशाली लोग अपने मकान में एक ही खिडकी नहीं रखते, चारों दिशाओं में अलग-अलग खिडकियां रखते हैं । केवल अंग्रेजी भाषा के द्वारा ही दुनिया को देखेंगे तो एकांगी दर्शन होगा । इसलिए अपने भारत को फ्रेंच, जर्मन, रशियन, स्पेनिश, अरेबियन, चीनी, जपानी, अंग्रेजी ऐसी कम से कम आठ खिडकियां तो चाहिए ही, तभी दुनिया का दर्शन होगा । उसमें अंग्रेजी भी एक खिडकी होगी ।

दूसरा एक गलत खयाल यह है कि अंग्रेजी आ गयी तो दुनिया-भर में आसानी से घूम सकेंगे । परंतु अंग्रेजी जाननेवाले दुनिया में 30 करोड हैं और दुनिया में कुल लोग 300 करोड हैं । यह भी भ्रम है कि अंग्रेजी जान लेने से विज्ञान हाथ में आ जायेगा । विज्ञान का विकास जर्मन भाषा में हुआ है, अंग्रेजी में नहीं ।

फिर यह भी गलत खयाल है कि तमिल और बंगाली लोगों के लिए अंग्रेजी उतनी विदेशी नहीं है, जितनी हिंदी । यह तो मैं बिलकुल नहीं समझ सकता । अंग्रेजी भाषा सीखने में जितनी मेहनत पडती है, उतने में तो मैं भारत की सभी भाषाएं सीख सकता हूं । हिंदी सीख लिया तो महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, राजस्थान, हिमाचल, कश्मीर, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, उडीसा, बंगाल और असम, इतने प्रदेशों में तो आपकी हिंदी लोग समझ ही लेंगे । और दक्षिण की कोई भी एक भाषा सीख लेने से बाकी के प्रांतों में काम चल जायेगा । इतना ही नहीं, संस्कृत को मातृभाषा कहनेवाले लोग भी हैं ।

राष्ट्रभाषा के तौर पर हिंदी भाषा ज्यादा अनुकूल है, जिसके अनेक ऐतिहासिक कारण हैं । संस्कृत भाषा की नागरी लिपि हिंदी की भी लिपि है, उसके कारण वह पूरे भारत में फैली हुई है । दूसरा कारण यह है कि सभी प्रांतों के संतों ने उसे अपनाया है । हिंदी भाषा की संस्कृत शब्द हजम करने की शक्ति बंगाली, मलयालम, मराठी, गुजराती आदि किसी भी भाषा से कम नहीं है । जितना-जितना ज्यादा सोचता हूं उतनी यह बात दृढ हो जाती है कि हमारी राज्यभाषा और राष्ट्रभाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती, वह हिंदी ही हो सकती है ।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी राष्ट्रभाषा और मातृभाषा का उत्तम ज्ञान होना ही चाहिए। हिंदी हमारी बांयी आंख है तो मातृभाषा अपनी दायी आंख है। दो आंखें तो हमें चाहिए ही। संस्कृत है तृतीय नेत्र! तृतीय नेत्र खुलेगा तो ज्ञान बढेगा। और दूर देखना हो तो चश्मा चाहिए, अंग्रेजी चश्मा होगी। लेकिन केवल 'अंग्रेजी' ही सीखेंगे तो अंग्रेजों की दृष्टि से ही दुनिया देखेंगे। इसलिए अन्य भाषाएं भी, उदा. फ्रेंच, जर्मन सीखनी चाहिए।

अखिल भारतीय भाषा का एक ऐसा कोश बनना चाहिए, जिसमें भारत की सभी भाषाओं के समान शब्दों का संग्रह हो। और जितनी भाषाओं में वह शब्द प्रचलित हो, उसका आंकडा उस शब्द के आगे लिखा जाये। उदाहरण-स्वरूप, 'पर्व' शब्द कश्मीर से ले कर कन्याकुमारी तक चलता है तो उसके सामने 14 का आंकडा लिखा जाये। तमिल में 'कष्टम्' शब्द है, जो मराठी, हिंदी आदि भाषाओं में चलता है, यानी तकलीफ। ऐसा कोश बनेगा तो ख्याल में आयेगा कि भारत में करंट कॉइन (चलन) जैसे कौनसे शब्द हैं और फिर उन्हीं शब्दों का प्रचार करें। उसमें अंग्रेजी शब्द भी आयेंगे, जैसा कि टिकिट! अब उसके लिए दूसरा शब्द बनाना व्यर्थ है। इस तरह हजार-बारह सौ अंग्रेजी शब्द जो इस्तेमाल होते हैं वे भी और ऐसे ही उर्दू और फारसी के शब्द भी जोड दें। इन सारे शब्दों का एक कोश बनना चाहिए।

ग्रामस्वराज्य

विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्

वेद में प्रार्थना की गयी है कि 'हमारे गांव में वृद्धि हो, हमारे गांव में सुख-समृद्धि हो, हमारे गांव में अनारोग्य, पुष्टि हो। ग्रामधर्म की बात प्राचीनकाल से चली आयी है। हर गांव का अपना एक राज्य था। पांच वर्णों के प्रतिनिधियों की पंचायत बनती थी और पांच उंगलियां जैसे यह पंचायत काम करती थी, इसलिए कहा जाता था, 'पांच बोले परमेश्वर'।

नीति का अधिष्ठान खेती है। खेती सबसे उत्तम उद्योग है। इसी लिए वेदों ने आज्ञा दी – कृषिमित् कृषस्व – खेती करो। उसमें कम मिलेगा तो भी उसे बहुत मानो। खेती से लक्ष्मी प्रसन्न हो कर किसान के पास आती है। 'अन्नं बहु कुर्वीत' – खूब अन्न पैदा करो, यह वेदाज्ञा है। इस आज्ञा के पालन के लिए हरएक के पास जमीन चाहिए, क्योंकि 'माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः – जमीन हमारी माता है और सब मानव उसके पुत्र हैं। हर पुत्र का कर्तव्य है कि मां की सेवा करे।

☆

लोकमान्य तिलक ने कहा था कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'। वैसे ही ग्रामस्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। हम अपना घर चाहे जैसे चलायें, वैसे ही यह गांव की बात है। अपने गांव का आयोजन खुद हमें ही करना होगा।

विज्ञान के युग में हमें शासन को विकेंद्रित करना होगा, सत्ता गांव-गांव में बांटनी होगी और इधर गांव तो उधर विश्व ऐसा सीधा संबंध स्थापित करना होगा। इधर गांव और उधर जगत् – ऐसे दो बिंदु होंगे। दोनों को जोडनेवाला राष्ट्र जरूर होगा, परंतु गांव अपने में एक स्वयंपूर्ण स्वायत्त स्वतंत्र इकाई होगा।

चार अवस्थाएं

1 मुगल राजाओं के समय हमारा देश गुलाम था, लेकिन गांव आजाद थे। गांव-गांव का कारोबार गांववाले स्वयं चलाते थे। खेती अच्छी थी, लोग सुखी थे। उस जमाने में स्वाधीन गांवों का पराधीन देश था।

2 बाद में अंग्रेज यहां आये और उन्होंने यहां की ग्रामपंचायत और ग्रामोद्योगों को समाप्त कर दिया। परिणाम यह हुआ कि देश तो पराधीन बना ही, गांव भी पराधीन बन गये। पराधीन गांवों का पराधीन देश हो गया।

3 अंग्रेज जाने के बाद आजादी मिली। देश स्वाधीन हुआ, परंतु गांव आज भी पराधीन है। आज हमारा पराधीन गांवों का स्वाधीन देश है।

4 अब हमें चौथी हालत निर्माण करनी है, जिसमें देश भी स्वाधीन हो और गांव भी स्वाधीन हो। स्वाधीन गांवों का स्वाधीन देश हमें बनाना है।

आज हम पराधीन गांवों के देश को स्वाधीन कहते हैं। जैसे किसी मिट्टी के कलश को स्वर्णपात्र कहेंगे। आज हमारा देश मिट्टी का बनाया हुआ सुवर्ण कलश है। हमें उसे सोने का बना हुआ सुवर्ण कलश बनाना है। स्वाधीन गांवों का स्वाधीन देश करना है। गांव-गांव ग्रामस्वराज्य स्थापित कर के हम इस दिशा में आगे बढ सकते हैं।

ग्राम-निर्माण के लिए ग्रामसभा

इसके लिए सब से पहला कार्य करना होगा – **ग्राम-निर्माण** का। आज देहात में अलग-अलग लोग हैं, लेकिन 'गांव' नाम की कोई चीज नहीं है। गांव का एक 'समाज' नहीं बना है। जैसे परिवार की एक हस्ती है, जिसमें परिवार के सभी सदस्यों के सुख-दुःख में सब हिस्सेदार हैं, वैसे गांव की कोई हस्ती नहीं है, उसका कोई परिवार नहीं बना। इसलिए पहला काम तो यही करना होगा कि अब अपने परिवार का विस्तार करना होगा और सारा गांव ही एक बडा परिवार मान कर सबके सुख-दुःख बांटने होंगे। गांव एक बने, यह बुनियादी कार्य है।

गांव को स्वाधीन बनाना है तो गांव में विषमता नहीं चलेगी। कोई भूखा, नंगा या बिना काम का रहे यह भी नहीं चलेगा। गांव में उत्पादन का साधन जमीन है, तो जमीन का पुनर्वितरण करना

होगा और गांव में से भूमिहीनता मिटानी होगी। हमने जो ग्रामदान का कार्यक्रम चलाया, उसमें सबके लिए अपनी जमीन का बीसवां हिस्सा भूदान करना लाजिमी माना गया है। यह जो बांट कर खाने की शक्ति है, वह शिवशक्ति है। पहले गरीबी ही बांट लेंगे, तो शक्ति पैदा होगी, जिससे धीरे-धीरे लक्ष्मी बढ़ेगी। बांटने से संपत्ति पैदा होती है, इस सूत्र का अमल करें।

फिर भूमि की मिलकियत भी सारे गांव की करनी होगी। कोई व्यक्ति भूमि का मालिक नहीं हो सकता। भूमि तो अपनी मां है, उसकी सेवा करने का अधिकार सबका है, परंतु हम उसके मालिक नहीं बन सकते। भगवान के प्रतिनिधि के तौर पर गांव ही उसका मालिक बने। 'ग्रामदान' में अपना गांव किसी को दान में नहीं देना है। वह शब्द मध्यमपदलोपी समास है – ग्राम के लिए दान। अपने गांव को एक परिवार बनाने के लिए, ग्रामस्वराज्य स्थापित करने के लिए, स्वाधीन बनने के लिए सबके सुख-दुःखों को बांटना इसका नाम है – ग्रामदान।

गांव का सारा इन्तजाम गांव को अपने हाथ में लेना होगा। अपना भला-बुरा दूसरा कोई नहीं कर सकता, हम खुद ही अपना उद्धार कर सकते हैं, ऐसा आत्मविश्वास गांववालों में पैदा करना होगा। गांव का कारोबार संभालने के लिए ग्रामसभा बनानी होगी, जिसमें गांव के सभी बालिग स्त्री-पुरुष सदस्य होंगे। प्रत्यक्ष काम चलाने के लिए ग्रामसमिति बनानी होगी। उसके सदस्य सर्वसम्मति से चुने जायेंगे और उसके सारे निर्णय सर्वसम्मति से करने की पद्धति शुरू करनी होगी। किसी बात पर सर्वसम्मति न सधती हो तो जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। गांव किसी भी हालत में टूटना नहीं चाहिए।

किसी का विरोध न हो, अनुमति हो, भले सम्मति न हो, तो वैसी सर्वानुमति से भी काम चल सकता है, परंतु बहुमति – लघुमति के राक्षस को तो गांव से दूर ही रखना होगा। ग्रामसभा में चुनाव की पद्धति नहीं, मनाव की पद्धति चलनी चाहिए। सत्ता सेवा के लिए चाहिए, भोगने के लिए नहीं। ऐसी हालत में योग्य व्यक्ति को ग्रामसभा का काम संभालने के लिए मनवाना होगा, चुनाव का प्रश्न ही नहीं आयेगा।

गांव के दूसरे काम चलाने के लिए ग्रामपूंजी चाहिए। उसके लिए ग्रामकोश इकट्ठा करना होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का चालीसवां हिस्सा ग्रामकोश में दे, जिससे ग्रामविकास के कार्य होंगे।

सर्वसम्मति : लोकनीति की बुनियाद

गांव का कारोबार चलाने के लिए मैं जो **'सर्वसम्मति'** की बात कर रहा हूं, वह कोई नयी चीज नहीं है। अपने देश की जो पुरानी रीति थी, वही 'पंच बोले परमेश्वर' वाली बात मैं यहां कह रहा हूं। आज तो 'तीन बोले परमेश्वर' चलता है – दो विरुद्ध तीन, इस प्रकार बहुमत से काम चलता है। यह नया परमेश्वर परदेश से आया है और बडा खतरनाक है। वह जहां-तहां टुकडा करना ही जानता है। यहां तक कि यूनो में भी वही चलता है, संघ-न्यायालय में भी वही चलता है।

इस बहुमत के सिद्धांत के कारण हम अपना मूल स्वभाव ही छोड रहे हैं। हमारे मूल स्वभाव में यही है कि हम 'सर्वानुमति' से काम करें। असल में न्याय तो परमेश्वर देता है। मनुष्य तो समाधान

ही कर सकता है। न्याय अंदर का उद्देश्य देख कर देना पडता है, जिसे अंतर्यामी परमेश्वर के सिवा कोई नहीं जानता। इसलिए मनुष्य का धर्म न्याय देना नहीं, समाधान देना है। ईसा ने भी कहा, "तुम न्याय दोगे तो तुम्हारा न्याय परमात्मा करेगा।"

इसलिए गांव में जो भी फैसला होगा, सर्वानुमति से होगा। अगर गांववाले सब मिल कर सर्वसम्मति से तय करते हैं कि होली के दिन पूरे गांव को आग लगायेंगे तो आग लगायेंगे। सवाल एक मनुष्य का नहीं, सबकी सम्मति का है। इसलिए योग्य-अयोग्य का सवाल नहीं। ग्रामसभा में गुट न हो जाये इसलिए यह सर्वानुमति की योजना है। किसी हालत में सर्वानुमति न हो पाये और चुनाव करना हो तो पर्चा डाला जाये। अलग-अलग कागजों पर विभिन्न मत लिख कर भगवान के सामने किसी छोटे बच्चे के हाथ से कागज खोला जाये और जो फैसला आये वह सर्वमान्य हो। यह अपना पुराना रिवाज है।

खेती : उपासना के तौर पर

भारत हमारा कृषिप्रधान देश है। भारत को आजाद हुए इतने साल हुए, परंतु आज भी हम सेना और सरकार, इन दो शक्तियों के आधार पर चलते हैं। तीसरी शक्ति के लिए हमारा कोई प्रयत्न नहीं चल रहा। देश में अनुत्पादक वर्ग बढता जा रहा है। आज हमारे देश में 55 लाख नौकर हैं। हिसाब लगायेंगे तो 40 परिवार की सेवा के लिए तीन सेवक हो गये। पहले भारत में 52 लाख साधु-संन्यासी लोग थे, अब वे भी 55 लाख हो गये हैं। ये दोनों मिल

कर एक करोड की ऐसी संख्या है, जिसमें ये भले लोग कुछ न कुछ काम तो करते हैं परंतु उत्पादन का काम कुछ भी नहीं करते हैं। इनके अलावा हर साल 300 करोड रुपया सेना के पीछे खर्च होता है। अपना यह गरीब देश, सेना के ही पीछे 300 करोड रु. हर साल खर्च करे तो क्या स्थिति होगी हमारी ? इसलिए हमें खतरा उठा कर भी तीसरी शक्ति निर्माण करनी होगी। सैनिक, सरकारी नौकर, साधु-संन्यासी, विद्यार्थी-शिक्षक, व्यापारी–दुकानदार, वकील–डॉक्टर आदि आज कोई उत्पादक श्रम नहीं करता। खेती की महिमा केवल पुस्तकों में है।

मैं अपने अनुभव के आधार पर कहता हूं कि जीने का शुद्धतम साधन कृषि ही है। व्यापार में मुनाफागिरी कर के समाज का अहित किया जाता है। नौकरी तो आत्मा की तेजस्विता को ही नष्ट करनेवाली है। उद्योगों में लगे लोगों को भी कुछ घंटे खेती में देने चाहिए। हमारे यहां तो कहा ही गया है कि उत्तम खेती, मध्यम व्यापार, कनिष्ठ चाकरी। गीता ने भी कहा है कि बिना श्रम जो खायेगा, वह पाप का अन्न खायेगा।

खेती को मैं एक उपासना मानता हूं। भूमि हम सबकी मां है। और यह उपासना यानी मां की सेवा बिना किसी अपवाद के हरएक व्यक्ति को करनी चाहिए। सत्यनिष्ठा, प्रेम, सहकार, पराक्रम-शीलता, हिम्मत, निरंहकारिता, ईश्वरशरणता आदि गुण सबमें आने चाहिए। इसके लिए खेती सर्वोत्तम साधन है। इसके अलावा जितने लोग खेती की उपासना करेंगे, वे भारतीय क्रांति के आधार होंगे। भारत में मजदूरों की क्रांति नहीं किसानों की क्रांति होगी। किसान और खेत-मजदूर भारत का मुख्य समाज है। भारत में जो

क्रांति होगी, वह खेती के द्वारा ही होगी। खेती का विकास भारत का मुख्य आधार है। ऐसी कृषि-मूलक व्यापक क्रांति समाज के प्रचलित मूल्यों को जड से ही बदल देगी।

मैं कहता हूं कि सबको खेती करनी चाहिए, वह इसलिए कि खेती एक ऐसा व्यापक उद्योग है, जिसमें सब गुणों का विकास होने का अवसर है। सृष्टि के और पशुओं के साथ एकरूपता, सहकार्य की आवश्यकता, परिश्रम-निष्ठा, सब तरह का हिसाब किताब आदि अनेक बातें उसमें सध जाती हैं। खेती सबके लिए करनी होती है। ऐसे काम का लाभ सबको मिले, ताकि गुणविभाजन न हो।

खेती साक्षात् ब्रह्मकर्म है, इसलिए निर्माण कार्य है। अर्थ-शास्त्री इसे उत्पादक कार्य कहते हैं, पर वह गौण शब्द है। सर्वोत्तम शब्द है– ब्रह्मकर्म। ब्रह्मकर्म यानी ब्रह्मदेव की क्रिया। सृष्टि में जो उत्पादन होता है, वह ब्रह्मकर्म है। इसमें साक्षात् सृष्टिदेवता के साथ संपर्क आता है। इसलिए सबका मन उदार होगा। एक दाना बोने पर जहां हजार दाने वापस मिलते हैं, वहां कृति मनुष्य की नहीं, भगवान की है। इस काम में भगवान का साक्षात् कर्तव्य है, कर्तृत्व है और साथ-साथ करणत्व भी। यानी वहां वह करण भी बन जाता है। ऊपर से वर्षा के रूप में पानी देता है तो अंदर से बीज को अंकुरित करता है और किसान को निमित्त बनाता है।

कृषि तो एक महान पवित्र कार्य है। यह सबसे बडी उपासना है। विकारों का शमन करने के लिए यह एक अद्भुत उपाय है। ऋषि और कृषि का अत्यंत निकट का संबंध है। ऋषभ यानी बैल होता है। जो धर्म कृषि को पाप मानता है, वह धर्म नहीं है। वेदों में ऋषियों ने कृषि-विकास का संदेश देते हुए कहा कि विपुल अन्न

पैदा करो। इससे देश की अन्न-समस्या तो हल होगी ही, साथ-साथ कृषक का आध्यात्मिक, शारीरिक विकास भी होगा।

प्रकृति के अधिकाधिक निकट आने का मौका खेती में ही मिलता है। भूमि हम सबकी माता है, मां की सेवा बिना किसी अपवाद के सबको करनी चाहिए। आज देश में अनुत्पादकों की संख्या दिन-व-दिन बढती जा रही है। हमारे ऋषि-गण भी अपनी गणना अनुत्पादकों में करायें यह मैं नहीं चाहता। इसलिए मैं कहता हूं कि ऋषि कृषि करें।

'कृषि' का संबंध 'कृष्ण' से भी है। कृष्ण खेती करता था और सबको आकर्षित करता था। कृषि के कारण वह कृष्ण – काला था। इस तरह ऋषि-कृषि का परस्पर संबंध है। बिना किसी साधन से, केवल हाथ से जो कृषि की जाती है, उसी को ऋषि-कृषि कहा है।

कुछ व्यावहारिक बातें भी खेती में देख लेनी होंगी। इकॉलॉजी (संतुलन शास्त्र) का ख्याल रखना होगा। और भूमि में से इतनी फसल न ली जाये कि भूमि में शक्ति ही न रहे। अपनी अगली पीढी के लिए कुछ रखना है, यह ध्यान में रखा जाये। पूरा का पूरा चूस लेना ठीक नहीं।

भारत की कृषि के साथ गाय-बैल जुडा हुआ है। सारे भारत में भगवान कृष्ण का गोपाल-कृष्ण नाम चलता है। हिंदुस्तान में गाय के लिए अत्यंत आदर है। भारतीय संस्कृति का यह आदेश है कि भारत में गोपालन हो। परंतु आज गाय और बैलों का ऐसा कतल हो रहा है कि हमारे पास खेती के लिए बैल नहीं रहेंगे। ट्रैक्टरों की खेती हमारे लिए अनुकूल नहीं है। गाय दूध देती है। उसके गोबर से गॅसप्लैंट होता है। उसका मूत्र आरोग्य की दृष्टि से

काम आता है । खाद में भी वह काम आता है । मृत्यु के बाद गाय-बैल की चमडी के जूते और सिंग आदि की अन्य चीजें बनती हैं। इस तरह वह अत्यंत उपयोगी पशु है । इसवास्ते गोवंश की हत्या नहीं होनी चाहिए ।

खेती-सुरक्षा के लिए गोहत्या-बंदी

दूध मनुष्य के जीवन का प्राण है । उसके बिना हमारा चल नहीं सकता । मेरे जैसा खादीनिष्ठ भी विशेष परिस्थिति में इस प्रकार की समाजरचना की कल्पना कर सकता है कि जिसमें सारे किसानों को दूसरे कामों में लगा कर मिलों का राष्ट्रीयकरण कर के देश अपने कपडे की जरूरत को पूरी कर ले । परंतु दूध के बारे में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । हमें गोसेवा के तथ्य समझ लेने चाहिए ।

आज गाय की जितनी उपेक्षा और करुणाजनक दुरवस्था इस देश में है, ऐसी शायद ही किसी दूसरे देश में हो । केवल श्रद्धा होना बडी बात नहीं है । केवल सात्त्विक और शास्त्रीय श्रद्धा ही तारक होती है । इस युग में यह मानना कि गाय में ही सभी देवताओं का निवास है और दूसरे प्राणियों में नहीं, यह पूज्यभाव का अतिरेक है, मूढता है । उसकी ओर विज्ञान की दृष्टि से देखना होगा । वैज्ञानिक दृष्टि से गाय मनुष्य के लिए उपयोगी और आर्थिक दृष्टि से लाभ-दायक होगी तभी हमारी गोसेवा टिकेगी ।

इसके अलावा इससे भी व्यापक और एक दृष्टि है, जिसके कारण गाय का महत्त्व है । हमारे भारतीय समाजवाद की दृष्टि में

हमने गाय को अपने परिवार में स्थान दिया है । समाजवाद कहता है कि हर मनुष्य से पूरा काम लीजिए और उसे पूरा रक्षण दीजिए । हम जिससे पूरा-पूरा काम ले कर पूरा संरक्षण दे सकते हैं ऐसा भारत में केवल एक ही जानवर है और वह है गाय । भारतीय समाजवाद में मनुष्य के साथ पशु को भी स्थान है और गाय पशुसृष्टि की प्रतिनिधि है, क्योंकि वह दूध देती है और बैल भी देती है ।

अब हमें इस भारतीय समाजवाद का नये सिरे से विचार करना हो तो अलग बात है, अन्यथा गाय को अपने परिवार का ही अंग मानना है तो पश्चिम के समाज से निराले ही प्रकार की अपनी समाजरचना करनी होगी । अगर हमें बैलों को खाना नहीं है, तो सारा आयोजन दूसरे ढंग से करना होगा और गोसेवा करनी होगी ।

गाय का दूध देना बंद हो जाने पर भी उसका बुढापे में पालन करना, एक विशाल आदर्शवाद है । और यह बात तो अब सिद्ध ही हो गयी है कि किसान को बुढापे में भी गाय-बैल आर्थिक रूप से भारी नहीं होते हैं ।

गोपालन के इस शरीर-परिश्रमात्मक काम करने से भारत में क्रांति तब होगी, जब देश के पढे-लिखे लोग गांवों में लोगों के साथ एकरूप होंगे । कहते हैं कि जर्मनी के सेनापति रोमेल से मिलने एक पत्रकार गया तो बहुत तलाश करने के बाद पाया गया कि वह एक टैंक की मरम्मत कर रहा था । भारत में क्रांति तभी होगी, जब भारत के नेता गाय दुहते हुए, हल चलाते हुए या बढईगिरी करते हुए पायेंगे । आज पांच हजार वर्षों के बाद भी हम कृष्ण के स्तुतिगान गा रहे हैं । उसकी विशेषता यह थी कि पूर्ण ज्ञानी होने पर भी वह गोपालों के साथ गोपाल बन कर काम करता था ।

संस्कृत भाषा में 'गो' शब्द का पहला अर्थ है गाय, दूसरा पृथ्वी, तीसरा माता। और 'मातृ' शब्द का अर्थ है, मां, गाय और पृथ्वी। यह संस्कृत भाषा है। और आज हिंदुस्तान में लाखों गायें कटती हैं और उसका मांस विदेशों में भेजा जाता है। उससे भारत को 'डॉलर' मिलता है, जिसके मोह में यह कतल हो रहा है। भारत में गोहत्या न हो, यह भारतीय संस्कृति का आदेश है। भारतीय संविधान में भी गोहत्या-बंदी का निर्देश है।

गोपालन में ऊर्जाशक्ति का भी विचार होना चाहिए। देश के विभिन्न भागों में गोसदन कायम कर के कमजोर तथा बेकार पशुओं को वहाँ रख कर उनके मलमूत्र, चमडे और हड्डियों का उपयोग किया जाये। उनके गोबर में से गॅस प्लान्ट की योजना हो, खाद तो उनसे मिलती ही है। चमडे से जूते तो मिल ही सकते हैं। इस तरह यह पशु अनेक प्रकार से उपयोगी प्राणी सिद्ध हुआ है। हमारे देश की अर्थव्यवस्था में गाय-बैल रीढ के समान हैं। वह टूट न जाये, इसकी चिंता हमें करनी चाहिए। डॉलर के लोभ में सरकार गाय-बैलों का अंदाधुंध कत्ल करती है।

ट्रैक्टर भारत की खेती के लिए उचित नहीं है। इसके कई कारण हैं। ट्रैक्टर कडवा नहीं खाता, खाद नहीं देता। बैल कडबा खाता है, खाद देता है। ट्रैक्टर 'क्रूड ऑइल' खाता है, जो हमारे पास नहीं है, विदेशों से मंगवाना पडता है। उसकी दुरुस्ती भी हमारे गांवों में नहीं हो सकती। हमारे यहां जमीन फी आदमी सिर्फ ए... एकड है। कम जमीन में ट्रैक्टर महंगा पडेगा। अमरीका में ... आदमी बारह एकड जमीन आती है। ट्रैक्टर की दुरुस्ती वहीं ... क्रूड ऑइल भी उनके पास है। वे बैल को खाते भी हैं।

बैल को खाते नहीं। क्या गाय-बैलों को खाने का अर्थशास्त्र भारत को मंजूर है ? अगर नहीं तो ट्रैक्टर और बैल, दोनों का पालन करना भारतवालों के लिए संभव नहीं।

गाय बचेगी तो देश बचेगा। कल अगर परमेश्वर की कृपा से हमारी कुल जनसंख्या में से, 36 करोड में से 30 करोड लोगों का संहार हो जाये, तो भारतवासी नये सिरे से इस विषय में सोच सकते हैं। लेकिन जब तक भारत में जमीन का रकबा कम है, जनसंख्या ज्यादा है और आप बैलों को खा नहीं सकते, तब तक ट्रैक्टर से काम नहीं ले सकते हैं।

तीन गृहदेवता

गांवों में केवल कृषि के आधार पर जनजीवन नहीं चलेगा। भारत में जनसंख्या ज्यादा है और जमीन का रकबा कम है। इस हालत में हमें गांव में कुछ उद्योग चलाने पडेंगे। पहले गृहोद्योग देख लें। अपनी रोजमर्रा की जरूरतों के लिए कोई किसी पर अवलंबित न रहे, इसलिए हिंदू-समाज ने कुछ संस्थाएं खडी कर दीं और उनकी रक्षा के लिए उन्हें धर्म का अंग बना दिया। इनमें सबसे प्रथम महत्त्व की तीन संस्थाएं हैं।

पहली है चूल्हा। आज हमें इस संस्था का महत्त्व समझ में नहीं आता। परंतु योरप के घरों में चूल्हा बुझता जा रहा है। राष्ट्र के चूल्हे को बुझाने से बढ कर गंभीर शायद ही कोई भूल हो। मैंने तो बाकी सारी कलाओं से श्रेष्ठ, फाइनर आर्ट (सुहावनी कला) रसोई को कहा है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण संस्था है – चक्की। चक्की केवल अनाज ही नहीं पीसती। वह घर के सारे आलस और रोगों को भी पीस डालती है। यह संस्था अब शहरों से तो उठती जा रही है। महाराष्ट्र में जनाबाई एक बडी भक्त हो गयी। भगवान उनके साथ चक्की पीसते थे। इस भक्ति की मधुरता और चक्की की महती की आजकल की शहरी औरतें कल्पना भी नहीं कर सकती। श्रम बचा कर प्राण बचनेवाले नहीं है। परंतु आज समाज में श्रम के प्रति नफरत है। कल की चक्की का आटा जला हुआ होता है। उससे रोग पैदा होते है। सोने जैसे गेंहू चक्की में पिसवा कर गेहूं की ही नहीं, अपनी शरीर की भी मिट्टी बना देने जैसा है। आलस और रोग को हटाना हो तो चक्की को फिर से जीवित करने की जरूरत है।

तीसरी संस्था है, चरखा। पहले घर-घर में चरखा चलता था, इसलिए 'एक रोटी और दो लंगोटी' का सवाल घर-घर में ही हल हो जाता था। घर का सूत गांव में ही बुना जाता था और बुनकर को फसल का कुछ हिस्सा मिल जाता था। फिर से चरखा चलना शुरू हो जायेगा तो गांववालों को काम की तलाश में शहर नहीं जाना होगा। अगर घर-घर में चरखे की स्थापना हो जायेगी तो चूल्हे और चक्की के लिए अलग से कुछ भी करने की जरूरत नहीं रहेगी। ये तीन हमारी गृहदेवता हैं। इनकी जो उपासना करेगा, उसका सदा कुशल-मंगल होगा। शान्तिस्तुष्टिः पुष्टिश्चास्तु।

ग्रामदानरूपी कागज पर ग्रामोद्योग का चित्रांकन

जैसे हवा, सूरज की रोशनी तथा पानी पर किसी की व्यक्तिगत मिलकियत नहीं हो सकती, वैसे जमीन भी सारे गांव की ही

और सबको काश्त करने के लिए जमीन मिले, इसलिए जमीन का बंटवारा हो। गांव का मुख्य धंधा तो खेती ही रहेगा, क्योंकि हमारा देश खेतीप्रधान है और यहां मानवशक्ति भी बहुत ज्यादा है। इसलिए विकेंद्रित खेती करनी होगी और जमीन पर सबका अधिकार मान्य करना होगा फिर खेती की पूर्तिस्वरूप ग्रामोद्योग खडे करने होंगे। 1916 से ले कर 1948 तक यानी उम्र के 32 साल मैंने ग्रामोद्योग का ही काम किया है। मेरा अनुभव है कि जमीन के बंटवारे के बिना ग्रामोद्योग फल-फूल नहीं सकते। खेती और ग्रामोद्योग, दोनों मिल कर ही पूर्ण विचार होता है।

हमारे यहां पुराना रिवाज था कि गांव में जो बढई, कुम्हार, तेली, दर्जी, हजाम आदि कारीगर लोग थे, उन सबको सालभर में फसल का एक हिस्सा दिया जाता था और बदले में वे किसानों का काम कर देते थे। जिस साल ज्यादा फसल आती, उस साल ज्यादा हिस्सा मिलता, जब कम फसल आती, तो कम मिलता। मतलब गांव में सभी के सुख-दुःख समान थे। सबके धंधे-रोजगार चलें, इसलिए सब चिंतित थे। यह जिंदा समाज का लक्षण है। गांव के सुख-दु:ख बांट लेने की कला हो तो समाज मजबूत रहता है। पुराने जमाने में स्वदेशी धर्म सहज था, इसलिए गांव का किला मजबूत था।

परंतु जब से हमारे देश में अंग्रेज आये, हम पराधीन होते चले। बंगाल और बिहार में अंग्रेजों का राज्य पौने दो सौ साल चला। अंग्रेजों की नीति यह थी कि इस देश में इकट्ठी की हुई संपत्ति हर साल अपने देश, इंग्लैंड में भेज देना। उनका व्यापारी राज्य था, और वे भारत के निवासी बनना नहीं चाहते थे।

उनका मुख्य काम था – व्यापार। हिंदुस्तान के माल की वहां इतनी मांग थी कि उसको रोकने के लिए वहां कानून करना पड़ा। उस वक्त हिंदुस्तान में यंत्र नहीं आये थे, हाथ-कारीगरी से ही सारा माल बनता था। परंतु उन्होंने भारत के ग्रामोद्योगों का गला धीरे-धीरे घोंट दिया, परिणामस्वरूप देश दरिद्र होता चला, देश की संपत्ति बाहर जाती रही। एक जमाने में जो परम संपन्न देश था, वह अत्यंत दरिद्र देश बन गया। स्वराज्य के बाद भी हमारी व्यापार-उद्योगनीति अंग्रेजों की नीति के जैसी ही रही, जिसके कारण हमारे गांव और टूटते गये। अब धीरे-धीरे समझ आ रही है कि गांव टिकेंगे, तभी देश टिकेगा। इस देश में ग्रामोद्योगों के बिना तरणोपाय नहीं है।

करण-उपकरण विवेक

हम ग्रामोद्योगों की बात करते हैं तो हमें यंत्रोद्योग का विरोध है, सो बात नहीं, परंतु उसमें विवेक करना होगा। दुनिया में जितने भी उत्पादन के काम होते हैं वे पांच उंगलियों से होते हैं। ग्रामोद्योगों के काम में तो पांच उंगलियां ही प्रधान हैं, उनकी मदद में कुछ न कुछ उपकरण आते हैं, लेकिन वे उपकरण के नाते ही हैं। यह जो करण-उपकरण का विवेक है, यही ग्रामोद्योग और यंत्रोद्योग का विवेक है। ग्रामोद्योग में करण प्रधान और उपकरण गौण है। आंख प्रधान और चश्मा गौण है। पांव प्रधान, साइकिल गौण। विज्ञानयुग में कुछ काम यांत्रिक तौर पर होना अनिवार्य है, उसमें उपकरण प्रधान हो जाये, तो भी करण के बिना नहीं चलेगा। दूर के नक्षत्र देखने हों तो दूरबीन ही प्रधान है, परंतु फिर भी आंखों

से अधिक योग्यता उसकी नहीं हो सकती। आंख न हो तो दूरबीन का कोई उपयोग ही नहीं होगा। इसलिए उपकरण का उपयोग है, परंतु करणों की मदद में उसका उपयोग है। इसलिए यंत्रोद्योग और ग्रामोद्योगों में हमें विवेक करना होगा।

गुलाम भारत में से विदेशी सत्ता हटाने के लिए हमने विदेशी माल का बहिष्कार और स्वदेशी को उत्तेजन दिया था, वैसे गांव को आजाद करना है तो हमें ग्रामीणेतर माल का बहिष्कार करना होगा और गांव के कच्चे माल का पक्का माल गांव में ही तैयार कर स्वदेशी धर्म का पालन करना होगा।

बापू ने हमें सिखाया था कि जैसे सत्य एक धर्म है, अहिंसा एक धर्म है, उसी तरह अपने आसपास के लोगों द्वारा पैदा किया हुआ माल प्रेम से स्वीकार करना हमारा धर्म है। नजदीक की चीज छोड कर दूर की लेते हैं तो इसमें करुणा की नहीं, लाभ-प्राप्ति की वृत्ति रहती है। स्वदेशी का विचार एक जीवन-विचार है।

मक्खन खाओ, कपडा बनाओ।

इस दृष्टि से खादी को देखा जाये तो खादी एक जीवनविचार है, सिर्फ कपडा नहीं। पुराने जमाने में जो खादी थी, वह एक कपडा जरूर था, परंतु आज खादी का अर्थ है – सारे संसार में चलनेवाले प्रवाह के विरुद्ध जाना। आज खादी यानी पानी के प्रवाह पर चढना। इस प्रतिकूल समय को जीत सकेंगे तभी 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' ऐसा सिद्ध होगा इस दृष्टि से हमारा चरखा है नवयुग का संदेशवाहक, ग्रामस्वराज्य और रामराज्य का प्रतिनिधि,

हरिजन-परिजन भेद मिटानेवाला, स्त्री-पुरुषों को समान इज्जत देनेवाला, सर्व धर्म, पंथ, संप्रदायों, को परमेश्वर के एक प्रेमसूत्र में बांधनेवाला ! स्वदेशी विचार का खादी तो एक अंग मात्र है। परंतु स्वदेशी-धर्म-पालन कर के हमें गांव का एक मजबूत किला बनाना है। गांव का स्वावलंबन ऐसा होना चाहिए कि अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के बारे में गांव को किसी के सामने हाथ फैलाना न पडे। हमने तो ग्रामदान को देश-संरक्षण की दूसरी रेखा, सेकंड लाईन ऑफ डिफेन्स कहा है। मान लीजिए कि अपने देश पर किसी पराये राष्ट्र का आक्रमण हो जाये, और देश में पारस्परिक संबंध टूट जाये तो उस वक्त जो गांव आत्मनिर्भर होगा वही टिक सकेगा।

हम लोगों ने खादी को गादी के साथ जोड दिया है, इसके कारण खादी चलती नहीं। आज खादी को सरकारी मदद मिलती है। एक जगह खादी पैदा होगी और दूसरी जगह बिकेगी। इससे काम बनेगा नहीं।

हमने कहा कि मक्खन खाओ कपडा बनाओ। हर गांववाला अपना मक्खन भी खायेगा और कपडा भी खुद बना लेगा। आज 'मक्खन बेचो, कपडा खरीदो' चलता है। गांव का दूध गांव के बच्चों के लिए नहीं रहता। और कपडा खरीदना पडता है तो गांव का पैसा बाहर जाता है। गांव की कोई भी चीज बेचने के लिए जायेंगे या खरीदने जायेंगे, दोनों में चीजों के दाम शहरवाले तय करेंगे। तो बेचने में भी परावलंबी, खरीदने में भी परावलंबी। इस तरह गांववाले पूर्ण परावलंबी हो गये हैं। इसके बदले यशोदा और कृष्ण का संवाद याद करना चाहिए। कृष्ण सारे गांव को इकट्टा कर के सबको मक्खन खिलाता है। यशोदा कहती है, "बेटा, अरे,

मक्खन तो बेचने की चीज है, मथुरा नजदीक है वहां से पैसा मिलता है। अगर हम मक्खन खाते हैं तो उतना पैसा खोते हैं।" तो कृष्ण मां से कहता है, "माताजी, मथुरा में पैसा है, लेकिन मथुरा में कंस भी है। पैसे के साथ कंस जुडा हुआ है। इसवास्ते हम लोग बराबर मक्खन खायेंगे, मल्लविद्या सीखेंगे और कंस का पराजय करेंगे।" एक है यशोदा की नीति, दूसरी है कृष्ण की नीति। गांव की चीज गांव में ही इस्तेमाल हो।

गांव में गांव की ही एक दूकान होगी। जिस में गांव की बनायी हुई चीजें मिलेंगी। उसमें किसी का शोषण नहीं होगा। दूकान से जो मुनाफा होगा, वह 'ग्रामपूंजी' माना जायेगा।

तीनों देवियों को संभाल रखें।

आज हमारे गांवों की तीन देवता--श्रमशक्ति, बुद्धि-शक्ति और संपत्ति, तीनों गांव छोड कर शहरों की ओर जा रही हैं। लक्ष्मी, शक्ति और सरस्वती, ये तीनों देवियां जब गांव में रहेंगी, तभी गांव रहने लायक बनेंगे।

गांव की लक्ष्मी को बाहर जाने के रास्ते बाजार, शादी-ब्याह, साहूकार, सरकार और पांचवा व्यसन हैं। इन पांचो रास्तों को बंद करना होगा।

पहला शादी-ब्याह लें। उसमें लडके-लडकी की शादी मां-बाप तय करें। पर उतना ही उनका काम। शादी करना, समारोह करना, भोज करना, आदि सारा काम गांव उठा लें। मां-बाप शादी में एक पाई भी खर्च न करें। जो करेंगे उनको जुर्माना हो, ऐसा

कानून गांववालों को बनाना चाहिए । शादी के खर्च के लिए प्रत्येक आदमी से कुछ न कुछ लिया जाये । गांव की सभी शादियां सामूहिक हों । सारे गांव का समारोह होगा और वर-वधू के मां-बाप को कुछ खर्च नहीं होगा । आज परिवार की शादी में कुल खर्चा जितना होता है, उससे कम खर्चा गांववालों को कुल मिला कर देना होगा । आजकल तो एक शादी यानी जिंदगी भर की बरबादी । यह रुकना चाहिए । तिसपर भी किसी को खर्च करने की इच्छा हो तो किसी खेत में कुआं खोदने के लिए कूपदान किया जाये । वर-वधू तो सारे समाज के हैं, उनको सबका आशीर्वाद मिलना चाहिए ।

दूसरा रास्ता बाजार का है । अनाज, कपास, गन्ना आदि जो कुछ भी हम पैदा करते हैं, वह सारा हम बाजार में बेच देते हैं । कपास बेच कर कपडा; तिल, मूंगफली बेच कर तेल; गन्ना बेच कर गुड-शक्कर खरीदते हैं । अब इतना ही बाकी रह गया है कि देहातों से अनाज भेज कर बंबई से रोटियां मंगायें ।

ग्रामोद्योगों को बढावा दें

बाजार में हम क्यों जायें ? जो चीजें आवश्यक हैं, जिनका कच्चा माल हमारे यहां ही पैदा होता है, उनका पक्का माल हमारे यहां हम क्यों न बना लें ? स्वराज्य यानी स्वदेश का राज्य । स्वराज्य में स्वदेशी चीजों का ही उपयोग करना चाहिए । खेती के लिए बढिया बैल चाहिए, तो वे भी गोपालन कर के गांव में ही पैदा कर लें । बैलों के लिए बागडोर, नथनी चाहिए, तो गांव में ही सन, पटुआ आदि से बना लें । गांव में कपडे चाहिए तो दो लडकों को

बुनाई सिखा दें। हर एक व्यक्ति अपना सूत कात कर उनसे बुनवा ले। घानी शुरू कर दें तो ताजा तेल मिलेगा। गन्ने का अच्छा गुड बना दें। शक्कर की कोई जरूरत नहीं। गुड स्वास्थ्य के लिए पोषक द्रव्य है। पानी मिलाने से वह ठंडा हो जाता है। गन्ने के छिलके जलाने के काम में आयेंगे। गांव के चमार से ही जूते बनवा दें। गोबर में से गोवर-गॅस बना कर जलावन में स्वावलंबी हो जायें। स्वावलंबन में ही सच्चा स्वराज्य है।

जहां पारस्परिक व्यवहार है, वहां कोई चीज महंगी नहीं पडती। एक-दूसरे को निभा लेना धर्म है। आज गांव में एक-दूसरे को मटियामेट कर रहे हैं। अपनी आवश्यकता की चीजें बाहर से खरीदते हैं तो गांव के धंधे टूट जाते हैं। इसके बजाय, इस हाथ से लेना, उस हाथ से देना, ऐसा भाईचारे का, सहयोग का खेल गांवों में चलना चाहिए।

अनावश्यक चीजों को गांव में दाखिल न होने दें। भगवान श्रीकृष्ण अपने को कैसे सजाता था? वृंदावन में मोर के पंख गिरे हुए मिलते थे, उसका मोरमुकुट पहनता था। गले में जमुना के तीर के फूलों की वैजयंती माला पहनता था। ये फूल अमीर-गरीब सबको मिलते हैं। ऐसी स्वदेशी वनमाला से सुहाता था। और बजाता क्या था? देहात के बांस की बांसुरी। वही उसका वाद्य था।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये। एक प्रसंग उन्होंने सुनाया। "हम फ्रांसीसी, जर्मन, अंग्रेज, जापानी, रूसी सब एकसाथ बैठे थे। सबने अपने देश के राष्ट्रीय वाद्य बजा कर दिखाये। बाद में मुझसे कहा गया, तुम हिंदुस्तानी वाद्य सुनाओ। मैं चुपचाप बैठा रहा। वे मुझसे पूछने लगे तुम्हारा भारतीय वाद्य कौन-सा है? मैं

उन्हें बता न सका।" तब मैंने उनसे कहा, हमारा राष्ट्रीय वाद्य बांसुरी है। लाखों गांवों में वह पायी जाती है। कृष्ण भगवान ने उसे पुनीत किया है। वह गोकुल का स्वदेशी वाद्य था।

श्रीकृष्ण खाता क्या था ? क्या वह बाहर से चीनी मंगवाता था ? वह तो अपने गोकुल का दूध, मक्खन खुद खाता था, दूसरों को खिलाता था। ग्वालिनें गोकुल की लक्ष्मी मथुरा पहुंचाती थीं, तो उसने मटकी फोडने का कार्य शुरू किया। श्रीकृष्ण हमारा पहला समाजवादी है। गांव के सभी ग्वालों को मक्खन खिलाने का कार्यक्रम उसने बनाया। कृष्ण का वर्णन है – **नवनीताहारं कैवल्य भुवनाहारम्।** नव-नीत यानी आज का ही ताजा मक्खन, बटर नहीं। आधुनिक विज्ञान कहता है कि मक्खन जितना जल्दी खाया जायेगा उतना अच्छा। मक्खन शहर की कोई चार मंजिल की इमारत की छत पर तैयार नहीं होता। वह गांव में तैयार होता है, लेकिन पैसे के लोभ में बेचा जाता है।

हमें भी अपने गांवों को गोकुल बनाना है। गांव का रक्षण, पोषण, शिक्षण सब गांव में ही हो। बाजार का रास्ता बंद कर दें। हिंदुस्तान में प्रेम को टिकाना हो तो पैसे से मुक्ति पा कर ग्रामस्वराज की स्थापना करनी होगी।

व्यसन के बारे में क्या कहा जाये ? कोई दिनभर फू-फू बीडी फूंकते रहते हैं। कहते हैं बीडियां तो घर की ही हैं, वे कहां बाहर से आती हैं। जहर अगर घर का हो तो क्या खा लोगे ? घर का जहर खा कर पूरे सोलह आने स्वदेशी मृत्यु को स्वीकार करोगे ? इसी तरह सारे व्यसन प्राणघातक हैं। शराब पीना तो हमारे यहां पंचमहा-पातकों में एक माना जाता है। इस्लाम में भी शराब हराम है। झगडा भी हमारा व्यसन है। चार आदमी इकट्ठे रहते हैं तो कभी

झगडा हो भी जायेगा, लेकिन उसे बाहर क्यों ले जाये ? झगडे का समाधान गांव में ही होना चाहिए। रावण की लंकानगरी में भी विभीषण नाम का एक सज्जन रहता था, तो क्या आपके गांव में सज्जन नहीं, जिनके पास झगडों का निपटारा करें। हमारी वृत्ति न्याय की नहीं, समाधान की होनी चाहिए।

चौथी बात साहूकार की है। सारी प्राथमिक आवश्यकताओं में अगर हम स्वावलंबी हो जाते हैं तो कर्ज की हमें कम जरूरत रहेगी। ग्रामपूंजी में से गांव के काम चलेंगे।

पांचवी चीज है – सरकार ! भारत में विदेशी सरकार आयी इसी लिए कि यहां के गांव गांव के उद्योग अंग्रेजो ने तोड दिये। गांव अगर स्वावलंबी हो जाते हैं तो केंद्रवाली स्वराज्य की सरकार की भी हमें कम से कम जरूरत रहेगी।

अगर हमें सच्चा ग्रामस्वराज्य स्थापित करना है, केंद्रीय सरकार से मुक्त होना है तो निश्चय करना होगा कि हमारा कारोबार हम खुद सम्हालेंगे। हमारा उद्धार हम खुद करेंगे। हम दूसरों की तरफ ताकते नहीं बैठेंगे। अपनी भूख मिटाने के लिए खुद को खाना पडता है, वैसे गांव-गांव में संकल्प होना चाहिए कि हमारे गांव का स्वराज्य अब हम सम्हालेंगे।

आज हमारे देश में सबसे पिछडा गरीब, नीचा वर्ग कोई है तो वह है गांव का खेतमजदूर ! खेतों में वह काम तो करता है, सर्दी, गरमी, बारिश सभी वही सहन करता है, परंतु उसके पास अपनी कहलाने लायक एक गुंठा भी जमीन नहीं। ऐसा हमारा यह भूमिहीन मजदूर है। गांव में उसे बारह महीना काम नहीं मिलता तो वह शहर में चला जाता है। इस प्रकार हमारे गांवों की उत्तम

श्रमशक्ति शहरों में चली जाती है। इस प्रवाह को रोकना होगा। अपनी जमीन का बीसवां हिस्सा दे कर इन भूमिपुत्रों को अपनी माता भूमि की सेवा के लिए गांव में ही रोक लेना चाहिए। गांव में प्रत्येक परिवार के पास काश्त के लिए जमीन होनी चाहिए और पूरक आय के लिए गृहोद्योग और ग्रामोद्योगों का आयोजन करना चाहिए।

आज मनुष्य थोडा पढना-लिखना जानने लगता है कि गांव छोडना चाहता है। वह गांव में रहना पसंद नहीं करता, न कोई मेहनत का काम करना चाहता है। जो किसान जिंदगीभर खेत में कडी मेहनत करता है, वह भी नहीं चाहता कि अपना बेटा खेती करे। उसका भी यही स्वप्न है कि उसका बेटा किसी शहर में नौकरी करे। तो फिर गांव में रहेगा क्या ? सर्वोत्तम श्रमशक्ति, बुद्धिशक्ति और संपत्तिशक्ति शहर में चली जाती है और फिर गांव निर्बल, अनपढ गंवार और गरीब लोगों के रहने का स्थान बन जाता है।

एक घंटे की पाठशाला

गांव में बच्चों के शिक्षण की व्यवस्था भी होनी चाहिए, परंतु नित्य एक घंटे का बौद्धिक वर्ग बच्चों के शिक्षण के लिए काफी है। जितना समय शरीर को खिलाने में लगता है, उतना ही समय बुद्धि और मनको खुराक पहुंचाने के लिए काफी है। बाकी समय तो खाये हुए को पचाने में लगाना है। शिक्षा का मतलब है बच्चों में ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति पैदा करना। ऐसी एक घंटे की शाला का शिक्षक गांव के दूसरे लोगों की तरह अपने उद्योग से अपना भरण-पोषण करनेवाला होगा।

मेरा मानना है कि हर गांव में 'विश्वविद्यालय' हो, इसका मतलब यह नहीं कि हर 'फेकल्टी' वहां हो। जहां जंगल ज्यादा हो वहां जंगलशास्त्र की 'फेकल्टी' हो, औषधि-शास्त्र की 'फेकल्टी' हो। अलग-अलग संशोधन के विविध विषयों के लिए विविध स्थान हों, बाकी सर्वसामान्य ज्ञान की पूरी व्यवस्था गांव में होनी चाहिए।

संशोधन या खोज के लिए तीन चीजें आवश्यक हैं। 1 दार्शनिक-वृत्ति, 2 हाथों से काम करने की वृत्ति और कुशलता तथा 3 भौतिक साधन। गांवों में ये तीनों चीजें उपलब्ध हो सकती हैं और जो साधन गांवों में नहीं हैं, उनके लिए जहां साधन हैं, वहां जाना पड़ेगा।

गांव के प्रौढ़ों के लिए श्रवण-वर्ग जरूरी है। जीवन साक्षर नहीं, सार्थक करना है। हमारे प्राचीन ग्रंथों में से अच्छी-अच्छी कहानियां उन्हें सुनायी जायें। अच्छे-अच्छे भजन कंठस्थ कराये जायें। प्रौढ़ों के लिए यही विद्या काम आयेगी।

पंडित मालवीयजी हमेशा कहा करते थे कि –

ग्रामेग्रामे सभा कार्या, ग्रामे ग्रामे शुभा कथा
पाठशाला मल्लशाला, गवां सदनमेव च।

गांव-गांव में ग्रामसभा हो, हर गांव का एक परिवार हो। गांव-गांव में पवित्र कथा-कीर्तन हो। रामायण-महाभारत, भागवत, उपनिषद जैसे ग्रंथों का अध्ययन हो। गांव के लोग मजबूत बनें, इसलिए व्यायामशाला हो। प्रत्येक गांव में गोपालन के साथ-साथ गोसदन होना ही चाहिए।

हरएक गांव में शांति-सैनिक होने चाहिए, जिससे झगड़े का निपटारा शांति से हो। जहां शांति वहीं पुष्टि, समाजशास्त्र का यह

नियम है । गांव में शांति वनी रहे, इसलिए शांति-सैनिक नित्य कोशिश करता रहेगा । गांव में कोई भूखा-नंगा, वेकार रहे तो उससे सहज ही अशांति पैदा होगी । इसलिए भूदान अशांति-निवारण का वुनियादी कार्य कहा गया ।

रामराज्य की ओर

ग्रामस्वराज्य के दो लक्षण तुलसीदासजी ने वताये हैं । उन्होंने कहा है– **गांव गांव अस होई अनंदा**– गांव-गांव में ऐसा आनंद होगा । कैसा ? **वैर न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विपमता खोई ।** ये दो लक्षण वता दिये । किसी का किसी के साथ वैर नहीं यानी सव एक-दूसरे पर प्यार करें । हरिजन-परिजन, ब्राह्मण-मुसलमान इत्यादि जाति-भापा-पंथ-भेद सव मिटा दिया जायें । दूसरी वात । रामप्रताप से विपमता मिटा देना । आर्थिक विपमता एक वहुत वडा प्रश्न है । पांच अंगुलियों-सी समानता द्वारा सवका परस्पर सहयोग हो । विपमता हमें घटाते-घटाते मिटानी है । गांव में पूरा प्रेम करना है । '**नानक पूरा पाया, पूरे के गुण गाय**।' अधूरे के नहीं । यदि पूछा जाये कि अमुक मनुष्य जीवित है ? और जवाव मिले कि 'हां, आधा जीवित है ।' तो इसके कोई माने ही नहीं । **पूरा प्रभु आराधिया पूरा जाका नांव** । हमने जिस भगवान की आराधना की है, वह अधूरा नहीं, परिपूर्ण परमात्मा है । तुलसीदासजी ने यह भी कहा, '**येन केन विधि कीजे दान करे कल्यान** ।' जिस किसी विधि से हो, दान करते जाओ तो कल्याण होगा । इस प्रकार रामराज्य की चाभी हमको तुलसीदासजी ने दिखायी है । पहले हमें ग्रामस्वराज्य प्राप्त करना है, फिर धीरे-धीरे रामराज्य की ओर आगे वढेंगे । गांव के

झगडे का निपटारा गांव में ही हो, यह हुआ ग्रामस्वराज्य, गांव में झगडा ही न हो, यह हुआ रामराज्य । इस प्रकार के रामराज्य की हमें स्थापना करनी है ।

जय ग्रामदान – जय जगत्

इधर गांव, उधर विश्व । दोनों को जोडनेवाली बीच की कडियां उत्तरोत्तर कमजोर होंगी और शासन अव्यक्त होगा । हमारी रचना फूलों की माला जैसी होगी । माला में खिला हुआ हर फूल स्वतंत्र होगा और उन फूलों को अंदर पिरोनेवाला एक धागा रहेगा । एक-एक ग्राम विकसित होगा । ऊपर नैतिक सत्ता रहेगी । नीचे नैतिक एवं भौतिक दोनों सत्ताएं रहेंगी । ऊपर के विश्वकेंद्र में सर्वोत्तम, नीतिमान, रागद्वेषरहित, स्थितप्रज्ञ पुरुष होंगे । उनका आदेश नहीं होगा, वे केवल सलाह देंगे, उसे मानना न मानना लोगों पर निर्भर करेगा । लेकिन वे राग-द्वेष रहित होने के कारण उनकी सलाह आज्ञा से कम न होगी । उनकी कृति या शब्द सारी दुनिया को शांति पहुंचायेगा । कृति से अधिक शक्ति शब्द में और शब्द से अधिक शक्ति मौन में होगी ।

इन दिनों हमारे ध्यान में विश्व से कोई कम चीज नहीं आती । कुल विश्व और विश्व जिसके पेट में है वह विश्वेश्वर । कार्य में ग्राम-स्वराज्य, चिंतन में विश्व । दोनों मिल कर एक सुंदर, मीठा अनार का फल है । दुनिया में जितने भी गांव हैं वे सब अनार के एक-एक दाने हैं, वे सब एक विश्व में बिठाये हुए हैं, परंतु प्रत्येक दाने का स्वतंत्र रस है । प्रत्येक दाना हमें परिपुष्ट कर सकता है । पूरा मिल कर एक ही फल, फिर भी अंदर का प्रत्येक दाना अपने में परिपुष्ट स्वयंपूर्ण ! ...

हम भक्तिशास्त्र कोई अलग चीज नहीं मानते हैं। हमारा मुख्य शास्त्र समाजशास्त्र है। गीता में जो यज्ञ, दान और तप की वात कही गयी है, वह समाज के संतुलन और साम्ययोग की स्थापना के लिए की गयी है। धर्मशास्त्र में पारलौकिक कल्याण की और भक्तिमार्ग में चित्तशुद्धि की कल्पना है। ये दोनों चीजें समाजशास्त्र में समाविष्ट हैं।

भारतीय समाजशास्त्र में मुख्य वात यह है कि सारा गांव एक परिवार वनाना है, गांव एक वने और नेक वने, और सारे विश्व को एक कुटुंव वनाना है। ग्राम-परिवार हमारी वुनियाद होगी और विश्व-परिवार हमारा शिखर होगा। इस तरह हमारा समाज विश्व-कल्याण का मंदिर होगा। जिसके चित्त में व्यापक चिंतन और चरणों में अपने गांव की सेवा होगी। 'व्यापक चिंतन और विशिष्ट सेवा' यह हमारा मंत्र होगा। हमारा ग्रामस्वराज्य भी पूर्ण होगा और विश्वस्वराज्य भी पूर्ण होगा। पूर्णं अदः पूर्णं इदम् यह उपनिषद् का मंत्र है। यह भी पूर्ण, वह भी पूर्ण। वैसे हमारा विश्व भी पूर्ण और गांव भी पूर्ण, दोनों परिपूर्ण होंगे। विश्व परिपुष्ट और हमारा गांव आरोग्यवान होगा। इसमें हमारी भारतीयता भी पनपेगी, विश्वनागरिकता भी पनपेगी। दोनों में कोई विरोध नहीं होगा। हमारी ग्रामनीति-विश्वनीति दोनों चलेगी। और दोनों में परस्पर सामंजस्य होगा। हमारा मंत्र होगा जय-जगत् और तंत्र होगा, ग्रामदान यानी ग्रामस्वराज्य। भारत के सारे गांव 'सर्वोदय-ग्राम' वनेंगे तो 'जय-जगत्' अपने आप हो जायेगा। हमने गांव-गांव के वच्चों को यही सूत्र दिया है –

हमारा मंत्र – जय-जगत्
हमारा तंत्र – ग्रामदान

साम्ययोग का तत्वज्ञान- नखदर्पण में

गीता के छठे अध्याय के 29 से 32 तक के श्लोक-चतुष्टय में 'साम्ययोगी समाज' का तत्वज्ञान संक्षेप में आ गया है। उन श्लोकों में से निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुंचता हूं –

1. समाज में किसी भी सत्ता का शासन न हो। सद्विचार का अनुशासन हो।
2. व्यक्ति की सब शक्तियां समाज को समर्पित हों। समाज की ओर से व्यक्ति को विकास के अवसर प्राप्त हों।
3. ईमानदारी से, शक्ति के अनुरूप की गयी सब तरह की सेवाओं का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य समान माना जाये।

इतने में ही मैं संतोष कर लेना चाहता हूं।

★

साम्ययोग का आधार

[उपरोक्त चार श्लोक]

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।

आत्मा को सर्वभूतों में, आत्मा में सर्वभूत भी
देखता योगयुक्तात्मा समदर्शी सभी कहीं ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।

मुझे जो सब में देखे, सबको मुझमें तथा
मुझे न वह अप्राप्त, मैं अप्राप्त नहीं उसे ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।

सर्वभूतस्थ मुझको जो योगी एक हो भजे
मुझमें वर्तता है सो सर्वथा वर्तता हुआ ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।

आत्मोपम सभी को जो सर्वत्र समबुद्धि से
सुख हो दुःख हो देखे, योगी परम है वही ।

[गीता, अध्याय 6, श्लोक 29 से 32]

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

पुस्तक

साम्यसूत्र
गीता-प्रवचन
प्रेरणा-प्रवाह
भूदानगंगा 1-8
महाराष्ट्रांत विनोबा
मोहब्बत का पैगाम
गांधी जैसा देखा समझा
क्रांति की राह पर
विनोबाजी के सान्निध्य में
विनोबा की ज्ञानगंगा में
आचार्य-कुल
शांति-सेना
सर्वोदय पात्र
तीसरी शक्ति
आत्मज्ञान और विज्ञान
खादी विचार
चंबल के बेहड़ों में
आश्रम-दिग्दर्शन
विनोबा की पाकिस्तान यात्रा
प्रेरक पत्रांश
मधुकर
क्रांत दर्शन
जीवन-दृष्टि
शिक्षा-विचार
अध्यात्म-तत्त्व-सुधा
लोकनीति
कुरानसार
जंगमविद्यापीठ में
त्रिवेणी
भारतीय शांतिसेना
भाषा का सवाल

पुस्तक

एक देश एक लिपि
पंचायत और विनोबा
विनोबा की चतु:सूत्री
स्त्री शक्ति
नारी-महिमा
सर्वोदय विचार और स्वराज्य शास्त्र
नगर अभियान
दानधारा
भूदान-गंगोत्री
ग्रामदान
भूदानयज्ञ
गांधीजी और साम्यवाद (कि. मशरूवाला)

सामयिक

सर्वोदय
सेवक
भूदानयज्ञ
भूमिपुत्र
मैत्री
सर्वोदय साधना

गुजराती पुस्तक

गांधीजनने
रचनात्मक राजनीति
घर आंगणे गंगा-1-2-3-4
जयजगत्
शांतिसेना
गांधीजी ना गुजरातने
ग्रामदान अेटले अभयदान
व्यापार धर्म
विश्वमंदिर